सिद्ध योग

संस्थापक, सम्पादक तथा संरक्षक
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज

वर्ष ३

अक्टूबर १९६०

जो आयो सो जातो

जग में जीवत ही को नातो।
मन बिछुरें तन छार होइगो, कोउ न बात पुछातो॥
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै, कीजै पंच सुहातो।
बिषयासक्त रहत निसि बासर, सुख सिगरो, दुख तातो॥
साँच झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखो खातो।
'सूरदास' कछु थिर न रहैगो, जो आयो सो जातो॥

वार्षिक मूल्य १०रूपया

अंक ७

इस अंक का मूल्य १ रु०

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाँई ऐत्मादपुर आगरा

श्री सिद्धयुक्त प्रकाशन
सवाई-एतमादपुर
आगरा

संयुक्त सम्पादक
श्री 'दिव्य'

इस अङ्क में—

लेख	लेखक	पृष्ठ
१. धन्य है वे योगी	.....	१
२. वैराग्य का साधन	(हमारा विशेष लेख) योगयोगेश्वर पूज्यपाद अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३. गुरु-भक्त बालक उत्तंक	श्री सुरेन्द्रबहादुर एम. ए.	६
४. सुख-दुख तत्व	श्री रामसुमेर उपाध्याय कछवा मीरजापुर	१३
५. योगेश्वर चरित्र-माला	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन महाराज के सौजन्य से	२१
६. मन एवं योग	श्री ओमदत्त शर्मा बी. ए., बी-एड.	२६
७. मत्स्येन्द्रनाथ का परकाया-प्रवेश	श्री विजयसिंह एम एस-सी	३०
८. बिन गुरु निर्गुन ज्ञान को पावा	श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., बी-एड.	३४
९. सवांई-धाम	श्री जुगमन्दिरदास	४१
१०. योग-चर्चा (प्रश्नोत्तर)	पूज्यपाद श्री गुरुदेव के सौजन्यसे	४२
११. अधिक योगासन व उनसे लाभ		०६
१२. श्री गुरुदेवजी का आगामी योग-प्रचार कार्य-क्रम		४८
१३. अपनी आत्म-कथा	श्री लाला दुलीचन्द गोयल	४९
१४. धन की आसक्ति ही पाप है	टाइटिल	४

अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सद्गुरुदेव की जन्म-दिवस वेला

[श्री दिव्य जी]

जो अथ-इति से शून्य अजन्मा जिसको जग ने जाना ?
जन्म दिवस क्यों आज मनाओ हमने उसका माना ?
भूत भविष्यत वर्तमान का बन्धन जिसे न भाया !
कालातीत काल के बन्धन में क्यों बँधकर आया ?
क्यों काशी की नाग्रवान नगरी में आया योगी !
बना जरा, कौमार्य और यौवन का क्यों संयोगी ?
गुणातीत क्यों आज गुणों के सागर में उतरा है ?
बना अगोचर गोचर कैसे, कैसे रूप धरा है ?
मन के ये गढ़ प्रश्न—किन्तु मन की गहराई बोली !
और उसी ने धीरे-धीरे प्रश्न ग्रन्थि यह खोली ?

× × ×

'अज-अज होता त्रास योग का जग भोगों में जाता !
निःश्रेयस अभ्युदय छोड़ जन पाप-पुंज अपनाता ?
तब-तब ही ले जन्म धरा पर सिद्धेश्वर हैं आते !
कभी राम, शुकदेव, श्याम, शिव, मोहन हैं बन जाते ?
जग को जगमग जाग्रत करने ऐसी ज्योति जगाते।
जिसके प्रकाश में भटके-भूले पथ अपना पा जाते ॥
इसीलिए मन आज मना लो जन्म-दिवस का मेला।
बड़े पुण्य से, बड़े भाग्य से आई है यह वेला ॥
सद्गुरु रूपी परम पुरुष का आओ कर लें वन्दन।
आओ आज करें हम मिलकर 'मोहन' का अभिनन्दन ॥

दिनाङ्क १० अक्टूबर १९७०

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

वर्ष ३ | अङ्क ७

"ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्'
मर्त्यो मृत्योर्मुखमिवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तस्माध्यर्थान् बहुविशदयन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

अक्टूबर १९७०

धन्य हैं वे योगी ।

पाणिः पात्रं पवित्र भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकरा कर्मनिर्मूलयन्ति ॥

अर्थात—वे धन्य हैं जिनका हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा ही अक्षय भोजन है, लम्बी-चौड़ी दशों दिशायें ही जिनका वस्त्र है, पृथ्वी ही जिनकी बड़ी शय्या है, अन्तःकरण के अनासक्ति योग से जो सदा सन्तुष्ट रहा करते हैं और दीनता के भावों को त्याग कर जन्म परम्परा से प्राप्त कर्मों का नाश करते हैं।

वैराग्य का साधन

हमारा विशेष लेख :—

[योगयोगेश्वर पूज्यपाद अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज]

'सिद्धयोग' के गत अङ्क में हमने अपने लेख में मोक्ष के नान्तरीयक वैराग्य की साधना पर प्रकाश डाला था और उसमें भली प्रकार यह बतला दिया था कि पर-वैराग्य बिल्कुल मोक्ष का स्वरूप ही है। क्योंकि वह वैराग्य पुरुष ख्याति वैराग्यरूप है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर प्रत्युदित ख्याति योगी अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है और आत्मा विशुद्ध केवलीभाव को प्राप्त हो जाया करता है। उस समय प्रत्युदित ख्याति योगी विवेक ज्ञानरूप अपनी धारणा में दृढ़ हुआ इस प्रकार मानता है :—

प्राप्तं प्रापनीयं, क्षीणाः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा, भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं, एतस्येव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

अर्थात् प्राप्त करने लायक वस्तु प्राप्त कर ली, क्लेश क्षीण कर दिये, पोरी से पोरी की तरह जुड़ा हुआ संसार-चक्र मैंने काट दिया जिसके कारण जन्म और मरण होता था। अब मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अजर-अमर नित्य तत्त्व हूं। इस प्रकार पर-वैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने श्रीमद्-भगवद्गीता में मन की चंचलता को स्वीकार करके अभ्यास और वैराग्य को मन की एकाग्रता का परम साधन माना है। गीता का वह प्रकरण इस प्रकार है। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण जी से प्रश्न किया :—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन ने कहा 'हे मधुसूदन! साम्यत्वेन जो योग आपने कहा है वह सर्वथा ठीक है। चंचलता से इस मन की स्थिरता मैं बिलकुल नहीं देखता हूं। हे कृष्ण! यह मन बहुत ही चंचल, बलवान एवं मचल डालने वाला है। जिस प्रकार वायु को नहीं रोका जा सकता उसी प्रकार इस मनको भी पकड़ा नहीं जाता।

अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया :—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते॥
असंयतात्मना योगो
दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता
शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

हे महाबाहु अर्जुन! यह बात बिलकुल सत्य है कि मन बहुत ही कठिनता से वश में आने वाला और बहुत ही चंचल है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयतात्मा हैं, हे अर्जुन! मेरा विचार है उनको योग कभी प्राप्त नहीं हो सकता। और जिन्होंने अपने आप पर नियंत्रण किया है वह प्रयत्न करते हुए अवश्य ही उपाय से प्राप्त कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त को कठोपनिषद् में उपदेश करते हुए यमदेव ने इस प्रकार कहा है :—

यस्त्व विज्ञानवान्,
भवत्य युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्य वश्यानि
दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति
युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि
सदश्वा इव सारथेः॥

अर्थात् जो मनुष्य अविज्ञानवान होता है अर्थात् जिसको मन पर नियंत्रण नहीं होता उस व्यक्तिकी इन्द्रियां वश में नहीं होतीं जिस प्रकार बिगड़े घोड़े सारथी के वश में नहीं हुआ करते।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानवान् है और युक्त मन वाला है, उसकी इन्द्रियां वश में हुआ करती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वश में हुआ करते हैं।

अतः उपर्युक्त लेख से यह तो भली प्रकार सिद्ध हो गया कि अभ्यास परायण योगी अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण प्राप्त करके अपनी प्रगतिको ऊँचा बढ़ा सकता है। और वह प्रेमसे परम श्रेय भागी बन ही सकता है। कदाचित् भाग्यबल मनुष्य पर वैराग्य को प्राप्त हो जाय तो वह गुण धर्मों से छूट-कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो ही जाया करता है। क्योंकि वैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक माना गया है। हमारे शास्त्रों में जहाँ अभ्यास के भिन्न-भिन्न प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार से सांकेतिक भाषा में वैराग्य का महत्त्वपूर्ण वर्णन भी मिलता है। वह इस प्रकार के छिपे हुए भाव हैं कि जिनको सहसा मनुष्य समझ भी नहीं सकता। वैराग्य शब्द

का अर्थ है विगत राग हो जाना । ज्यों-ज्यों इन्द्रियाँ अपने विषयों में राग-परायण होती हैं त्यों-त्यों वे सब अपने विषयों को छोड़ने में असमर्थ हो जाया करती हैं । इस विषय में हमारे पूर्व आचार्यों का इतिहास और स्मृति के रचयिताओं का बिल्कुल एक मत है । श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति में बिल्कुल साफ और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है :—

इन्द्रियाणां विचरतां,
विषयेष्व पहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठे
विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥
इन्द्रियाणां प्रसंगेन
दोष मृच्छत्य संशयम् ।
सनियम्य तु तान्येव
तत सिद्धिं नियच्छति ॥
न जातु कामः कामा-
नामुपभोगेन् शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्द्धते ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च
नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्ट भावस्य
सिद्धिं गच्छति कर्हिचित ॥
वशे कृत्वेन्द्रिय ग्रामं,
संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाध्येदर्था-
नाक्षिणवन् योगतस्ततुम् ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च
भुक्त्वा घ्रात्वाचयो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा
स विज्ञेयो जितेन्द्रिय ॥

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि चित्त का अपहरण करनेवाली इन्द्रियों को इस प्रकार वश में रक्खे जिस प्रकार सुसारथी घोड़ों को रक्खा करता है। क्योंकि इन्द्रियों का अनुगामी होने से हजारों प्रकार के दोष पैदा हो जाया करते हैं और उनको संयम में ले आने पर जल्दी ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

उत्पन्न हुई कामनायें, कामनाओं के उपभोग से कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत और अधिक बढ़ती चली जाती है। जैसे अग्नि में घृत आदि हवि डालने से अग्नि और अधिकाधिक प्रज्वलित होती जाती है उसी प्रकार इन्द्रियों का उपभोग करने पर उनका लौल्य दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही चला जाता है। क्योंकि कभी भी अजितेन्द्रिय मनुष्य को वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप सिद्ध नहीं हुआ करते। अतः मनुष्य को चाहिए कि सारी इन्द्रियों के समूह और मन पर नियन्त्रण करके और योग के द्वारा अपने शरीर को रक्षा करते हुए कामनाओं को प्राप्त करे । जो मनुष्य सुन करके, स्पर्श करके, देख करके, भोग करके और गन्ध ग्रहण करके न प्रसन्न होता है न ग्लानि को प्राप्त होता है, उसको जितेन्द्रिय समझना चाहिए । इन सब शास्त्रीय

सिद्धान्तों को पढ़कर और सुनकर मनुष्य एक ही निश्चय पर पहुंचता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों में राग होना ही वासनिक प्रवृत्ति का मुख्य कारण है। यदि सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में विगतराग हो जांय तो उनकी प्रवृत्ति कभी भी उनमें हो ही नहीं सकती। इस विषय को इस प्रकार समझ लीजिये—जैसे हमारी चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति सुन्दर रूप देखने में रागान्वित है तो वह हमारे को सुन्दर रूप की ओर आकृष्ट कर देती है। यदि उसी चक्षु-इन्द्रिय के सामने किसी मल-मूत्रादि घृणित दृश्य को लाया जाय तो वह उसको कभी भी देखना पसन्द नहीं करेगी। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय कभी भी उसका गंध ग्रहण करना स्पर्श करना नहीं चाहेगी क्योंकि यह उनमें विगतस्पृह है। अतः कदाचित् किसी भाग्यवान् साधक को वैराग्य प्राप्त हो जाय तो उसका उसकी इन्द्रियों पर स्वतः ही नियन्त्रण हो जाया करता है। हम सबको चाहिए कि हम जहाँ जिस-जिस अभ्यास में प्रयत्नशील रहते हैं, वहाँ उसी प्रकार वैराग्य के लिए भी प्रयत्न-शील रहें।

वैराग्य साधना का अमर उपाय :—

वैसे तो वैराग्य साधन के लिए हमारे शास्त्रों में अनेकानेक उपाय वर्णित हैं किन्तु वह प्रायः साधकों के लिए विफल रहते हैं। उसका कारण मात्र यह है कि अधिकांश में सभी उपदेष्टा मनो नियंत्रण का उपदेश दिया करते हैं। नियंत्रण करना ठीक है किन्तु कभी कभी इस नियंत्रण का ऐसा परिणाम रहता है कि इन्द्रियों का वेग बलवान हो जाता है और वह नियंत्रण की मर्यादा को तोड़कर के अपनी वासना के लक्षीय भूत विषयों में बह निकलता है। इस बात को स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है :—

यततो ह्यपि कौन्तेय,
पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि
हरन्ति प्रसभं मनः॥

अर्थात् विद्वान लोग इन्द्रियों के नियंत्रण का प्रयत्न करते रहते हैं फिर भी इन्द्रियों का वेग इतना बलवान है कि वह बहुत जल्दी मन को हर ले जाता है।

इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार तीव्र वेग वाली नदी के जल को बांध लगा कर किसी जलाशय में रोक लेते हैं तो वह जल रुक तो जाता है और उस जलाशय के अन्दर इकट्ठा होता रहता है किन्तु जब वह जलाशय जल से परिपूरित हो जाता है और जल के वेग से कदाचित् बांधा हुआ बांध टूट जाय तो उस जल को रोकने की ताकत किसी में नहीं होती। टूटा हुआ वह बांध हजारों गावों और शहरों को नष्ट करता हुआ समुद्र की ओर भाग निकलता है। समुद्र में पहुंच करके ही वह विलय हो पाता है। इससे अच्छा उपाय यही था उस जल को इतने बड़े बांध से रोकने की चेष्टा नहीं की जाती प्रत्युत जहाँ-जहाँ जिन जिन क्षेत्रों में जल की भारी आवश्यकता

थी उन-उन क्षेत्रों में उचित संविधान के साथ बाँट दिया जाता तो उस जल का वेग शान्त हो जाता और कृषि आदि कार्यों के सहयोग से भारी लाभ होता। इसी प्रकार से इन्द्रियों के वेग को बिना लक्ष्य के किसी प्रकार मनुष्य रोक भी दे तो जब तक वह वेग रुका रहेगा ठीक है—कदाचित वह नियन्त्रण की मर्यादाओं को तोड़कर वह निकला तो वह इतना बह जायेगा कि उस पर फिर नियन्त्रण करना काबू से बाहर हो जायेगा। इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अपने अभ्यास-बल से उस प्रवाह को अन्तर-भूमिकाओं में परिवर्तित करता रहे। जिससे इन्द्रिय-ग्राम इतना सबल हो ही न पाये जिससे ऊँचे नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव में आए। इसीका निर्देश हमारे आचार्यों ने किया है। कठोपनिषद् में भगवान् यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि :—

पराँचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखनेवाला बनाया है इसलिए इनका वेग बाहर की ओर चलता रहता है। बाहर के जितने विषय हैं वह विषयों का मोटा रूप है, जैसे गन्ध तन्मात्र का स्थूल रूप पृथ्वी है और रस तन्मात्र का स्थूल रूप जल है, रूप तन्मात्र का स्थूल रूप अग्नि है, स्पर्श तन्मात्र का स्थूल रूप वायु है और शब्द तन्मात्र का स्थूल रूप आकाश है। हमारी इन्द्रियाँ पंच तन्मात्राओं के स्थूल रूप का ही दर्शन करती हैं, न कि सूक्ष्म का, यदि ये पंच भौतिक स्थूलाभोग को छोड़कर सूक्ष्म तन्मात्राओं का दर्शन व अनुभव करने लग जांय तो थोड़े ही दिन के बाद ये सब इन्द्रियाँ स्थूल विषयों में विगत राग हो जायेंगी। इसीलिए हमारे योगाचार्यों ने संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात नाम के दो योगों का वर्णन किया है। जो लोग संप्रज्ञात योग में प्रवेश कर जाते हैं, उनकी इन्द्रियाँ सूक्ष्म तत्त्वों का अनुभव करने लग जाया करती हैं और ज्यों-ज्यों सूक्ष्मतत्त्वों का अनुभव करती हैं त्यों-त्यों उनके स्थूलाभोग छूटते चले जाते हैं। इस अभ्यास के क्रमानुसार ज्यों-ज्यों योगाभ्यासी योगी उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाओं में प्रवेश करता है त्यों-त्यों निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में वह योगी विगत-स्पृह हो जाता है। उत्तरोत्तर उन निम्न श्रेणियों से वह विगत स्पृह हो जाया करता है। उसका राग उच्च भूमिकाओं में बढ़ जाता है। इस तरह से योगी अपने चित्त के प्रवाह को, जो अभी स्थूल जगत की ओर सीधता से प्रवाहित हो रहा था उसको सूक्ष्म जगत की ओर प्रवाहित कर लेता है। प्रवाह चलता रहता है, चित्त की अपनी ताकत का सदुपयोग होता रहता है। इस प्रकार का वह चित्त उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ हमारे परम कल्याण का

कारण बन जाता है। कदाचित् हम अपने चित्त को कहीं भी प्रवाहित न करें तो कभी भी इकट्ठी की हुई यह हमारी चित्त-शक्ति परस्फुटित हो सकती है और इस प्रकार की बिखरी हुई चित्त-शक्ति परिणाम में दुःखद रहेगी। इसलिए योगी को चाहिए कि वह निम्न श्रेणी की भूमिकाओं से अपने आपको उत्तर भूमिकाओंकी ओर बढ़ाता चला जाय। जिससे स्वतः ही उसका मन निम्न श्रेणी से विगत राग हो जाय। भगवान पतंजलि देव ने अपने योग सूत्र में

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

इस सूत्र पर व्यास देव ने अपने भाष्य में ये पंक्तियाँ लिखी हैं:—

वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः। आनन्दोः ह्लादः। एकात्मिका। संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत समाधिः स वितर्कः, द्वितीयो वितर्क विकलः सविचारः। तृतीयो विचार विकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति, सर्व एते सालम्बनाः समाधयः।

जिसमें विचार आनन्दानुगत समाधि सावलम्ब है। जिस समय योगी का अपने सार्वदेशिक मन को एकाग्र करके संप्रज्ञात योग की ओर बढ़ना आरम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है त्यों-त्यों नीचे की भूमिकाओं को छोड़ता चला जाता है। जिस प्रकार से गाँव का रहने वाला एक व्यक्ति गाँव के वातावरण को छोड़कर शहर में प्रवेश करता है तो वह ग्रामीण वातावरण को भूल जाता है और उसे फिर नागरिक जीवन ही पसंद आ जाता है। इसी प्रकार बाह्य-वासना दोषदर्शी व्यक्ति अन्तर्मुखता को प्राप्त करके बाह्य-वासनिक भोगों को बिल्कुल छोड़ देता है। संप्रज्ञात योग की प्रथम श्रेणी में प्रवेश करने वाला साधक सार्वभौम चित्त को इकट्ठा करके अपने भीतर के दर्शन में लगाता है। वह सार्वभौम से निवृत्त होकर वितर्कानुगत योग में प्रवेश करता है। वितर्कानुगत योग में उसको तन्मात्राओं से संबन्ध रखने वाले बड़े-बड़े दिव्य अनुभव होने लग जाते हैं। और उन सब दृश्यों को देखता हुआ वह योगी शनैः-शनैः विचारानुगत योग का अधिकारी हो जाता है और उसके सामने देव लोक के दृश्य आने लगते हैं। विचारानुगत समाधि में ये सब दृश्य उसके सामने आने लगते हैं। और वह स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है। जिस समय वह योगी स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है तो मनुष्य लोक के दृश्यों से उसको वैराग्य हो जाता है। विचारानुगत समाधि से जिस समय आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो उसे स्वर्गीय दृश्योंसे भी स्वाभाविकीय उपरति होने लगती है। और शनैः-शनैः स्वर्गीय दृश्यों से भी उसको वैराग्य हो जाता है। इसी प्रकार से आनन्दानुगत समाधि का योगी अस्मितानुगत समाधि में

प्रवेश करता है तो आनन्दानुगत के विषय को छोड़कर अस्मि प्रत्यय को आधार बनाकर उसी में विलीन रहता है। इस श्रेणी में आकर वह दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण होकर वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त करता है। और इससे आगे आत्मा का निजी स्वरूप है जिसके लिए महर्षि पतंजलि ने 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्, कह करके अभिव्यक्त किया है। अस्मितानुगत योग की अस्मि वृत्ति निर्बीजोन्मुखी वृत्ति कहलाती है यह वृत्ति अन्य सभी वृत्तियों का उपशमन करके स्वयं भी शान्त हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है यही पर-वैराग्य की स्थिति है। इसी को महर्षि पतंजलि ने 'तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' कहकर अभिव्यक्त किया है इसी वैराग्य को मोक्ष का नान्तरीयक वर्णन किया गया है। यही परा स्थिति है, जिसके लिए मनुष्य जीवन भर प्रयत्नशील रहा करता है। किसी भाग्यवान जीव को जन्म से ही विरक्ति की भावनायें पैदा हो जाती हैं यह उसका पूर्व जन्मकृत अभ्यास ही होता है। संसार में इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम ही देखने में आते हैं जिनके अन्दर जन्म से ही गुण वितृष्णता हो किन्तु जो लोग श्री गुरुदेव जी की कृपा को प्राप्त करके संप्रज्ञात योग के अभ्यासी बने रहते हैं वे लोग शनैः शनैः गुण वैतृष्णता को अवश्य ही पा जाया करते हैं। अतः हर साधक को यह चाहिए कि वह अपने आप को गुण वितृष्ण बनाने के लिए संप्रज्ञात योग का विद्यार्थी बनाये। तभी वह साधक 'तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' को प्राप्त हो सकेगा।

—×०×—

सद्गुरु-वन्दन

निमथ्य वेदोदधितः समुद्धृतं,
सुरैर्महाब्धेस्तु यथा महात्मभिः।
तथाऽमृतं ज्ञानमिदं हि यैः पुरा,
नमो गुरुभ्यः परमीक्षितं च यैः॥

—श्री शंकराचार्य

अर्थ—जिस प्रकार पूर्व काल में महामना देवताओं ने समुद्र मन्थन द्वारा अमृत प्राप्त किया था उसी प्रकार जिन्होंने वेदरूप महासागर का मन्थन कर इस ज्ञानामृत का उद्धार किया तथा परमात्मा का भी साक्षात्कार किया उन गुरुदेव को नमस्कार है।

गुरु-भक्त बालक उत्तंक

[श्री सुरेन्द्रबहादुर एम. ए.]

महाभारत के आधार पर :—

अपने प्रिय शिष्य उत्तङ्क की सेवा से प्रसन्न होकर आचार्य महर्षि आयोद धौम्य ने कहा—'बेटा उत्तङ्क ! तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की है। मैं तुम पर प्रसन्न हूं। अब मैं तुम्हें घर लौट ने की आज्ञा देता हूं। जाओ तुम्हारी सभी कामनाएं पूर्ण होंगी।' गुरुदेव के बचनों को सुनकर उत्तङ्क ने विनयपूर्वक प्रार्थना की, 'भगवन् ! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही आपको दक्षिणा भेंट करना चाहता हूं। अतः आप मुझे आज्ञा दें कि मैं आपको क्या दक्षिणा दूं।' गुरुदेव चुप रहे। उन्होंने उत्तङ्क को कुछ दिन और आश्रम में ठहरने की आज्ञा दी।

एक दिन उत्तङ्क ने पुनः अपनी प्रार्थना दुहरायी। गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'वत्स उत्तङ्क ! तुम बार-बार मुझ से कहते हो कि—'मैं क्या गुरु दक्षिणा भेंट करूँ ? अतः जाओ, घर के भीतर प्रवेश करके अपनी गुरु-पत्नी से पूछ लो कि—'मैं क्या गुरु-दक्षिणा भेंट करूँ' वे जो जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।'

गुरु की ऐसी आज्ञा पाकर उत्तङ्क ने घर के भीतर जाकर गुरु-पत्नी से कोई अभीष्ट वस्तु गुरु-दक्षिणा के रूप में भेंट करके गुरु के ऋण से उऋण होने की इच्छा प्रकट की और उसने उस अभीष्ट वस्तुका नाम बतलाने की प्रार्थना उनसे की, गुरु-पत्नी बोलीं, 'वत्स ! तुम राजा पौष्य के यहां से उनकी महारानी पत्नी के दोनों कुण्डलों को मांग लाओ और उन कुण्डलों को लेकर शीघ्र आओ, क्योंकि आज के चौथे दिन पुण्यकव्रत के अवसर पर मैं उन कुण्डलों को पहन कर ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूं। तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो। तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा कल्याण की प्राप्ति असम्भव है।'

गुरु-पत्नी के ऐसा कहने पर उत्तङ्क वहां से चल दिये। रास्ते में उन्होंने एक बहुत बड़े बैल को और उस पर चढ़े हुये एक विशालकाय पुरुष को देखा। उस पुरुष ने उत्तङ्क से उस बैल का गोबर खाने के लिये कहा। पहले तो उत्तङ्क हिचकिचाये किन्तु बाद में उस पुरुष की आज्ञा मानकर उस बैल का गोबर खाकर उतावलीके कारण खड़े-खड़े

ही आचमन किया और फिर वहाँ से चल दिये। क्षत्रिय राजा पौष्य के पास पहुंचकर उत्तङ्क ने उन्हें आसन पर बैठे हुये पाया। उत्तङ्क ने राजा के समीप आकर आशीर्वाद से उन्हें प्रसन्न करते हुये कहा, 'राजन! मैं याचक होकर आपके पास आया हूं।' राजा ने उन्हें प्रणाम करके कहा, 'भगवन्! मैं आपका सेवक पौष्य हूं कहिये, किस आज्ञा का पालन करूं?' उत्तङ्क ने उत्तर दिया, 'राजन! मैं गुरु-दक्षिणा के निमित्त उन दोनों कुण्डलों को आपसे लेने आया हूं जिन्हें आपकी पत्नी ने पहन रक्खा है। आप कृपया हमें वे दोनों कुण्डल दे दीजिये। यह कार्य आपके योग्य ही है।' राजा पौष्य ने उनकी याचना को स्वीकार कर लिया और उत्तङ्कको अन्तःपुर में आकर क्षत्राणी से उन कुण्डलों को स्वतः मांग लेने की अनुमति दे दी। उत्तङ्क ने अंतःपुर में प्रवेश किया। महारानी उत्तङ्क को देखते ही उठकर खड़ी हो गयी और प्रणाम करके बोली –'भगवन्! आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूं?' उत्तङ्क ने महारानी से कहा, 'देवि! मैंने श्री गुरुदेव के लिये आपके दोनों कुण्डलों की याचना की है। अतः आप उन्हें मुझे दे दें। महारानी उत्तङ्क की गुरु-भक्ति से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने उत्तङ्क को सुपात्र ब्राह्मण जानकर अपने दोनों कुण्डलों को स्वयं उतारकर उन्हें दे दिया और उनसे कहा, ब्रह्मन्! नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिये बहुत प्रयत्नशील है। अतः आप इन्हें सावधान होकर ले जाइये।' रानी की बात को सुनकर अपने गुरुदेव के लाडले तथा गुरुदेव में अनन्य निष्ठा रखने वाले उत्तङ्क ने अपने गुरुदेव का भरोसा करते हुये कहा, 'देवि आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझ से भिड़ने का साहस नहीं कर सकता।'

राजा तथा महारानी से आज्ञा लेकर उत्तङ्क दोनों कुण्डलों को लेकर वहाँ से चल दिये। मार्ग में उन्होंने अपने पीछे आते हुये एक नग्न क्षपणक को देखा जो कभी तो दिखायी देता और कभी छिप जाता था। कुछ दूर जाने के पश्चात् उत्तङ्क ने उन कुण्डलों को एक जलाशय के किनारे भूमि पर रख दिया और स्वयं शौच, स्नान, आचमन, सन्ध्या-तर्पण आदि करने लगे। इतने में ही वह क्षपणक बड़ी शीघ्रता के साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलों को लेकर भाग गया। उत्तङ्क ने स्नान-तर्पण आदि जल सम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरु को नमस्कार किया और जल से बाहर निकल कर बड़े वेग से उस क्षपणक का पीछा किया। वास्तव में वह नागराज तक्षक ही था। उत्तंक ने दौड़ते-दौड़ते उस क्षपणक को पकड़ लिया। पकड़ में आते ही उसने क्षपणक का रूप त्याग दिया और तक्षक नाग का रूप धारण करके वह एकाएक प्रकट हुये पृथ्वी के एक बहुत बड़े बिल में घुस गया। बिल में प्रवेश करके वह नागलोक में चला गया। उत्तङ्क को उस समय उस

क्षत्राणी की बात का स्मरण हो आया। उसने नागलोक तक उस तक्षक का पीछा करने का निश्चय किया।

उत्तङ्क ने उस बिवर को अपनी लाठी से खोदना आरम्भ किया, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। उस समय इन्द्र ने बालक उत्तङ्क को अपने गुरु के निमित्त इस प्रकार का क्लेश उठाते देखकर अपने वज्र को उस ब्राह्मण बालक की सहायता करने के लिये भेजा। वज्र ने डण्डे की लकड़ी में प्रवेश करके उस बिल को विदीर्ण कर दिया और पाताल लोक तक पहुंचने का मार्ग बना दिया। तब उत्तङ्क उस बिल में घुस गये। उसी मार्ग से भीतर प्रवेश करके उन्होंने नागलोक का दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। वह लोक अनेक प्रकार के मन्दिरों, महलों, ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजों से सुशोभित और छोटे-बड़े सुन्दर क्रीडा स्थानों से परिपूर्ण था। उन्हें वहाँ दो स्त्रियाँ दिखायी दीं, जो सुन्दर करघे पर रखकर सूत के ताने में वस्त्र बुन रही थीं। उस ताने में उत्तङ्क ने काले और सफेद दो प्रकार के सूत और बारह-अरों का एक चक्र भी देखा जिसे छः कुमार घुमा रहे थे, वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखायी दिये जिनके साथ एक सुन्दर अश्व भी था। उत्तङ्क ने पहले नागों की स्तुति की परन्तु कुण्डल नहीं मिले। फिर उसने उस श्रेष्ठ पुरुष की स्तुति की। तब वह पुरुष उत्तङ्क से बोला, 'ब्रह्मन्! मैं तुम्हारी स्तुति से बहुत प्रसन्न हूं। कहो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूं?' उत्तङ्क ने वर माँगा, 'सभी नाग मेरे अधीन हो जायें।' वह पुरुष उत्तङ्क से बोला 'इस घोड़े की गुदा में फूंक मारो।' यह सुनकर उत्तङ्क ने घोड़े की गुदा में फूंक मारी। फूंक मारते ही घोड़े के शरीर के समस्त छिद्रों से धुएँ सहित आग की लपटें निकलने लगीं। सारा नागलोक धुएँ से भर गया। तक्षक घबरा गया और अग्नि की ज्वाला के भय से दुखी होकर दोनों कुण्डल लिये घर से बाहर आया और विनयपूर्वक दोनों कुण्डल उत्तङ्क को लौटा दिये।

उत्तङ्क ने दोनों कुण्डलों को पुनः प्राप्त तो कर लिया किन्तु उसी दिन उनकी गुरु-पत्नी का पुण्यक व्रत था, अतः समस्या थी तत्काल नागलोक से गुरु-गृह पहुंचने की। उत्तङ्क चिन्तित हो उठे। वह पुरुष उत्तङ्क के मनोभावों को समझ गया और उसने उत्तङ्क को अपने घोड़े पर बैठाकर तत्काल गुरु के घर पहुंचा दिया। इधर गुरु-पत्नी स्नान करके उत्तङ्क की प्रतीक्षा करते-करते कुछ क्रुद्ध होकर उत्तङ्क को शाप देनेका विचार कर रही थी। ठीक उसी समय उत्तङ्क दोनों कुण्डलों को हाथ में लिये गुरु-पत्नी के पास पहुंच गये और विनयपूर्वक प्रणाम करके वे दोनों कुण्डल सादर समर्पित कर दिये। गुरु-पत्नी ने प्रसन्न होकर उत्तंक को सर्व सिद्धि-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। गुरुदेव ने भी गद्गद् कण्ठ से उत्तङ्क को आशीर्वाद दिया। उत्तङ्क तत्काल ही सारी विद्याओं का ज्ञाता

बन गया।

हमारे शास्त्रों ने हमें शिक्षा दी है :—

गुरु-भक्तिं सदा कुर्यात् श्रेयसे भूयसे नरः।

अर्थात् जो मनुष्य अपना परम कल्याण चाहता है उसे गुरु-भक्ति करनी चाहिए। गुरु-भक्त का मार्ग संसार में कोई नहीं रोक सकता। गुरु-भक्ति के कारण ही उसका सर्वदा के लिए अमर हो गये।

गुरु-निश्चय

हे पूर्णकाम, परम पुरुष, आत्माराम, सद्गुरु, तुम्हारी जय हो। तुम्हारी महिमा कही नहीं जा सकती। जो वस्तु देवताओं को भी मिलना कठिन है और जिसका शब्दोंसे वर्णन नहीं हो सकता, तुम्हारी कृपासे उस वस्तुका अलभ्य लाभ सत्वरिप्रय-को हो जाता है। जो ब्रह्म योगियों का धर्म, शंकर का निज धाम, विश्रामका भी विश्राम और परम गुह्य तथा अगाध है, तुम्हारे योग से प्राणी अपने शरीर से स्वयं वही ब्रह्म हो जाता है और इस दुर्घट संसार के दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

—समर्थ रामदास

चे ता व नी

[महाकवि शङ्कर]

अब तो चेत भला कर भाई।
बालकपन में रहा खिलाड़ी, निकल गई तरुणाई,
बहुत बुढ़ापे के दिन बीते, उपजी पर न भलाई।
धर्म, प्रेम विद्या, बल, धन की, करी न प्रचुर कमाई,
इनके बिना बटोर न पाई, सुयश बगार बड़ाई।
पिछले कर्म बिगाड़ चुका है अगली विधि न बनाई,
चलने की सुधि भूल रहा है, सुमति समीप न आई।
संकट काट नहीं सकती है, कपट-भरी चतुराई,
ब्रह्म-ज्ञान बिन हाय किसी ने, शङ्कर सुगति न पाई।

सुख-दुःख तत्त्व

[श्री रामसुमेर उपाध्याय, कछवा मीरजापुर]

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं मात्मवशं सुखम् ॥

—मनु० ४ । १६० ॥

छोटे-से-छोटे कीटों से लेकर देवता तक संसार के सभी जीव सुख-दुःख की उलझनों में फँसे हुए हैं—यानी सांसारिक जीवन सुख और दुःख इन दो वस्तुओं के अन्दर ही सीमाबद्ध हो रहा है। जहां देखिए वहाँ सभी इसी सुख की प्राप्ति के लिए व्यग्र हैं कि हमें सुख मिले हम सुखी हों व दुःखों से हमारा बिलकुल छुटकारा हो जाय किन्तु सुख तो मिलना दूर रहा उलटे लोग दुःख-ही-दुःख के सागर में गोते खा रहे हैं। हमारे सम्पूर्ण उद्योग, परिश्रम या क्रिया का परिणाम स्वेच्छा से या अनिच्छा से जो कुछ भी होता है उसको हम लोग कभी सुख और कभी दुःख कहते हैं। बड़े आश्चर्य्य की बात तो यह है कि जिसे हम सुख समझ कर अपनाते हैं वही फिर दुःख की मूर्ति दिखलाई देने लगता है। एक ही वस्तु किसी काल में सुख रूप है, तो किसी काल में दुःख रूप है। वस्तुतः समस्त प्राकृतिक वस्तुयें न सुख रूप हैं और न दुःख रूप। वस्तुओं में सुख-दुःख की भावना अपने-अपने कल्पित भावों से सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार से प्राणियों के अनेक जन्म बीत गए पर सच्चे सुख की एक बूँद भी न मिली।

सर खनत ही जनम गयो, कबहुँ न तृपत भयो ॥

—विनय पत्रिका

सुख मिले कहाँ से संसार में केवल दुःख-ही-दुःख है। नरक की तो कोई बात ही नहीं स्वर्ग में भी दुःख-ही-दुःख है। यथा विष्णु पुराणो-

न केवलं द्विज श्रेष्ठ नरके दुःख पद्धति।
स्वर्गेऽपि पात भीतस्य क्षत्रिप्योर्नास्ति निर्वृतिः ॥

—अंश ६ अ० ५ । ५०

अर्थात् हे द्विज श्रेष्ठ! केवल नरक में ही दुःख हो सो बात नहीं है, स्वर्ग में भी पतन के भय से डरे हुए क्षय की आशंका वाले उस जीव को कभी शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि नरक अथवा स्वर्ग भोग के अनन्तर बार-बार वह गर्भ में आता है, और जन्म ग्रहण करता

है तथा फिर कभी गर्भ में ही नष्ट हो जाता है और कभी जन्म लेते ही मर जाता है। जो उत्पन्न हुआ है वह जन्मते ही बाल्यावस्था में, युवावस्था में मध्यवय में अथवा जरा ग्रस्त होने पर अवश्य मर जाता है। जब तक जीता है तब तक नाना प्रकार के कष्टों से घिरा रहता है, जिस तरह कपास का बीज तन्तुओं के कारण सूत्रों से घिरा रहता है। द्रव्य के उपार्जन रक्षण और नाश में तथा इष्ट-मित्रों के विपत्ति ग्रस्त होने पर भी मनुष्यों को दुःख उठाने पड़ते हैं। यहां तक कि मनुष्यों को जो-जो वस्तुएं प्रिय हैं, वे भी दुःखरूपी वृक्ष का बीज हो जाती हैं। जैसे कि :—

कलत्र पुत्र मित्रार्थ
गृह क्षेत्र धनादि कैः ।
क्रियते न तथा भूरि
सुखं पुंसां यथाऽसुखम् ॥

—वि० पु० षष्ठ अंश अ० ५ । ५६

अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र और धन आदि से पुरुषों को जैसा दुःख होता है वैसा सुख नहीं होता। यहां पर थोड़ा इस बात को भी समझ लेना परम आवश्यक है कि सुख अथवा दुःख प्राप्त होने का कारण क्या है? प्रत्यक्ष एवं शास्त्रों के प्रमाणों से यही मालूम होगा कि सुख अथवा दुःख किये हुए कर्मों का परिणाम है। शास्त्र में विधि एवं निषेध दो प्रकार के कर्म हैं। विधि कर्म करना पुण्य है और निषेध कर्म करना पाप है। यह बिल्कुल निश्चित् बात है। इसी प्रकार फल भी दो प्रकार का है। स्वर्ग और नरक, यह स्वर्ग और नरक दोनों नाना भेदों से अनेक प्रकार के हैं। जिसका वर्णन स्थानाभाव से हम करने के लिए असमर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि जैसा जो मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है वैसा ही नरक अथवा स्वर्ग में फल भोगने के लिए जाता है। ऐसा शास्त्र वचन है कि :—

पुण्य कर्मणि वै स्वर्गो
नरकं पाप कर्मणि ।
कर्म बंधमयीसृष्टिर्ना-
न्यथा भवति ध्रुवम् ॥

—शिव संहिता १ । २०

अर्थात् (प्राणी) पुण्य कर्म करने से स्वर्ग में जाता है और पाप कर्म से नरक में जाता है, संसार कर्म से निश्चय बँधा है, दूसरा कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो ईश्वर को जान के कर्माकर्म से अपने को रहित समझेगा वह इस बन्धन से छूट जायगा। पाप कर्म करने से दुःख होता है और पुण्य कर्म करने से सुख होता है। इसलिए निश्चय करके सुखार्थी पुरुष नाना प्रकार का पुण्य कर्म करते हैं। तात्पर्य यह है कि बहुत लोगों को अज्ञान के कारण समझ में यह है कि यदि पाप कर्म का फल दुःख (नरक) है, और पुण्य कर्म का फल सुख (स्वर्ग) है, तो मैं पुण्य कर्म करूँगा, और हमेशा सुख (स्वर्ग) फल भोगूँगा। किन्तु मरने-जन्मने का दुःख बना ही रहेगा अतः महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि—

परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

—योग द० । २ । १५ ॥

अर्थात्— परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख ऐसे तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण, और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए, सब के सब (कर्मफल) दुःख रूप ही हैं। इस सूत्र की पूर्ण व्याख्या करने के लिए स्थानाभाव के कारण मैं असमर्थ हूं। किंचित् मात्र समझने के लिए एक उदाहरण लिखे देता हूं।

१. परिणाम दुःख—जैसे स्त्री-प्रसङ्ग के समय मनुष्य को सुख भासता है, किन्तु उसका परिणाम बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदि का ह्रास प्रत्यक्ष देखने में आता है, ऐसे ही दूसरे भोगों में भी समझ लेना चाहिये।

२. ताप दुःख— मनुष्य लोक एवं स्वर्ग-लोक के भोग रूप सुख विनाशशील हैं उनसे वियोग होना निश्चित है, अतः भोग-काल में उनके विनाश की सम्भावना से भय के कारण ताप दुःख बना रहता है। इत्यादि।

३. संस्कार दुःख—जिस-जिस भोगों में मनुष्यों को सुख का अनुभव होता है, उस अनुभव के संस्कार उसके मन में जम जाते हैं। जब उन भोगों की वस्तुओं से उसका वियोग हो जाता है तब के संस्कार पहले के सुख भोग की स्मृति द्वारा महान दुःख के कारण हो जाते हैं।

४. गुण वृत्तिविरोध—तीन प्रकार के गुण हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन गुणों के कार्य में परस्पर अत्यन्त विरोध है। जैसे सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश ज्ञान और सुख है तो तमोगुण का कार्य अन्धकार, अज्ञान और दुःख है। एक के उदय काल में दूसरे दोनों गुण अस्त रहते हैं। इनके कार्यों में परस्पर विरोध होने के कारण सुख भोग-काल में भी शान्ति नहीं मिलती— इत्यादि। सूत्र का सारांश यह है कि विवेकी के लिए सब के सब (कर्म फल) दुःख रूप ही हैं। इसलिए उपर्युक्त जो बहुधा लोगों की समझ में पुण्य कर्मों के द्वारा सुख (स्वर्ग) फल भोगने की बात है वह सर्वथा अज्ञान है। क्योंकि जग-दात्मा श्री कृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना
मतागतं कामकामा लभन्ते ॥

गीता ॥ ९ । २१ ॥

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं इस प्रकार (स्वर्ग के साधन रूप) तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के शरण हुए (और) भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार जाने-आने को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार भगवान शिव के वचन हैं कि—

पाप भोगावसाने,
तु पुनर्जन्म भवेत्खलु।
पुण्य भोगावसाने तु ना-
न्यथा भवति ध्रुवम ॥

शिव संहिता ॥ १ । २७ ॥

अर्थात् पाप का फल भोगने के पीछे अवश्य फिर जन्म होता है, ऐसे ही पुण्य फल भोगने के अन्त में निश्चय फिर जन्म होता है अन्यथा नहीं होता। और भी कहा गया है कि :—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु-
ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

—गीता २। २७

इस मरण-भय रूप क्लेश को योग-दर्शन में अभिनिवेश नाम से कहा गया है। यथा—

स्वरसवाही विदुषोऽपि
तथारूढोऽभिनिवेशः॥

—पातञ्जल योग द० ॥ २। ९॥

अर्थात् जो परम्परागत स्वभाव से चला आरहा है, एवं जो मूर्खों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरण भय रूप क्लेश) 'अभिनिवेश' है। तात्पर्य यह है कि पाँच प्रकार के क्लेशों में यह पाँचवाँ मरण भय रूप क्लेश सभी प्राणियों में अनादि काल से स्वाभाविक है, अतः कोई भी जीव अपनी मृत्यु नहीं चाहता, सभी जीवित रहना चाहते हैं (इससे पूर्व जन्म की सिद्धि होती है क्योंकि यदि मरण दुःख पहले अनुभव किया हुआ नहीं होता तो उसका भय कैसे होता?) यह मरण भय जीवों के अन्तःकरण में इस गहराई से बैठा हुआ है कि मूर्ख के जैसा ही विवेकशील पर भी इसका प्रभाव पड़ता है, इसीलिए इसका नाम अभिनिवेश, है। सब पाठक महाशय उपयुक्त कथन से समझें कि संसार में सुख है अथवा दुःख है। हमारे विचार से तो मनुष्य लोक से लेकर स्वर्ग लोक तक कदापि सुख नहीं है। यथा—

स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥

—तुलसीकृत॥ उत्तरकाण्ड॥

इस जगत में जितने प्रकार के जो-जो सुख देखने-सुनने तथा समझने में आ सकते हैं वे चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों पर हैं विनाशशील विशेषता से समझने के लिए बड़े से बड़े सुखों और अंत में उनके परिणामों को बताया जा रहा है।

तैत्तरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली २ अनुवाक ८)

सैषाऽऽनन्दस्यमीमा सा भवति। युवा स्यात्साधु युवा ध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठ स्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्यपूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

अर्थात् वह यह आनन्द सम्बन्धी विचार आरम्भ होता है कोई युवक हो, (वह भी ऐसा वैसा नहीं) श्रेष्ठ आचरणों वाला युवक हो (तथा) वेदों का अध्ययन कर चुका हो, शासन में अत्यन्त कुशल हो, उसकी सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ़ हों, (तथा) वह सब प्रकार से बलवान हो, (फिर) उसे यह, धन से परिपूर्ण, सब की सब, पृथ्वी, प्राप्त हो जाय, (तो) वह, मनुष्य लोक का, एक आनन्द है। तात्पर्य यह है कि इस वर्णन में सर्व प्रथम मनुष्य लोक के भोगों से मिल सकने वाले बड़े से बड़े आनन्द की कल्पना की गई है। इसके अतिरिक्त मनुष्य लोक

में दूसरा कोई आनन्द शेष नहीं रह जाता। मनुष्य लोक के इस एक आनन्द को एक बाँट (तोलने का बटखरा) मान लीजिए क्योंकि आगे कहे जाने वाले आनन्द को इसी बाँट से तोला जायगा।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे, जो मनुष्य-लोक सम्बन्धी एक सौ आनन्द हैं वह मानव गन्धर्वों का एक आनन्द होता है और (वह) जिसका अन्तःकरण भोगों की कामनाओं से दूषित नहीं हुआ है, ऐसे वेद वेत्ता पुरुष को स्वभाव से ही प्राप्त है। भावार्थ यह है कि मनुष्य लोक के सौ आनन्दों को एकत्र करने पर आनन्द की जो एक राशि होती है, उतना मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द है। (जो मनुष्य-उत्तम कर्मों द्वारा स्वर्ग में जाने पर गन्धर्व भाव को प्राप्त हुए हैं उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। जो उपर्युक्त भोगों तक की कामनाओंसे दूषित नहीं है इनसे सर्वथा विरक्त है, उस श्रोत्रिय वेदज्ञ पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है।

ते ये शतं मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देव गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात वे (पूर्वोक्त) जो मनुष्य गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं वह देव गन्धर्वों का एक आनन्द है तथा (वही) कामनाओं से अदूषित चित्त वाले श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है। सृष्टि के आरम्भ में ही गन्धर्व रूप में उत्पन्न हुए जीव को देव गन्धर्व कहते हैं। इस वर्णन में मनुष्य गन्धर्वों की अपेक्षा देव गन्धर्वों के आनन्द को सौ गुना बताया है।

ते ये शतं देव गन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिर लोक लोका नामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे (पूर्वोक्त) जो देव जातीय गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं, वह चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए, पितरोंका, एक आनन्द है, और, (वह) भोगों के प्रति निष्काम वेदज्ञ पुरुष को स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं पितृणां चिरलोक लोका नामानन्दाः। स एक आजान जानांदेवा नामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे (पूर्वोक्त) जो चिरस्थायी पितृ लोक को प्राप्त हुए, पितरों के, एक सौ, आनन्द हैं वह आजानज नामक देवताओं का एक आनन्द है, और (वह आनन्द) उस लोक तक के भोगों में कामनारहित श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है। देव लोक के एक विशेष स्थान का नाम आजान है जो लोग किन्हीं पुण्य कर्मों के कारण वहाँ उत्पन्न हुए हैं उन्हें 'आजानज' कहते हैं।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्म देवाना देवा नामानन्दः ये कर्मणादेवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे (पूर्वोक्त) जो आजानज नामक देवों के एक सौ आनन्द हैं वह (उन) कर्म

देव नामक देवताओं का, एक, आनन्द है, जो वेदोक्त कर्मों से देवों को प्राप्त हुए है और (वह) उस लोक तक के भोगों में कामना रहित, श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं कर्म देवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे (पूर्वोक्त) जो कर्म देवनामक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह देवताओं का एक आनन्द है, और (वह) उस लोक तक के भोगों में कामना रहित, श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वभावतः प्राप्त है।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे जो देवताओं के एक सौ आनंद है, वह इन्द्र का एक आनन्द है और (वह) इन्द्र तक के भोगों में कामनारहित वेदवेत्ता को स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे जो इन्द्र के एक सौ आनन्द है, वह बृहस्पति का एक आनन्द है और (वह) बृहस्पति तक के भोगों में निःस्पृह वेद-वेत्ता को स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे जो बृहस्पति के एक सौ आनन्द हैं वह प्रजापति का एक आनन्द है और (वह) प्रजापति तक के भोगों में कामना-रहित वेद-वेत्ता पुरुष को स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात् वे जो प्रजापति के एक सौ आनन्द है वह ब्रह्मा का एक आनन्द है और (वह) ब्रह्मलोक तक के भोगों में कामना-रहित श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

सारांश यह है कि यहां मनुष्य लोक के एक सुख का वर्णन करके स्वर्गों के सुख को उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा सौ गुना वर्णन करते-करते सबसे बढ़कर हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के आनन्द को बताया गया। अब इसके आगे स्वर्ग में कोई दूसरा स्थान उच्च नहीं है। यानी स्वर्ग के सुखों की पराकाष्ठा ब्रह्मा के लोक तक ही सीमित है। अब पाठक महाशयों को यह बात भी जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त सुखों का परिणाम क्या है? भगवदात्मा श्रीकृष्ण भगवान् कहते है कि :—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः
पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय
पुनर्जन्म न विद्यते॥

—गीता ८। १६

अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। परन्तु हे कुन्ती पुत्र! मेरे को प्राप्त होकर (उसका) पुनर्जन्म नहीं होता है। अब महर्षि पतंजलि के सूत्र से तुलना की जाय तो यह ज्ञात हो जायगा कि स्वर्ग के बड़े-से-बड़े सुख सब के सब परिणाम दुःख, ताप दुःख और संसार दुःख से युक्त हैं। क्योंकि सबसे बड़ा सुख ब्रह्मा का बताया गया है वह भी काल की अवधिवाला है। एक हजार चौकड़ी युग का एक दिन तथा रात्रि भी एक हजार चौकड़ी युग अवधिवाली है इसी प्रकार तीस दिन का एक माह व बारह माह का एक वर्ष होता है। इस प्रकार एक सौ दिव्य वर्ष पूर्ण होने पर ब्रह्मा अपने लोक सहित शान्त हो जाते हैं। जब ब्रह्मा ही शान्त हो गये तो उस ब्रह्मलोक में गये हुए प्राणियों के विषय में क्या कहना शेष है जो कि कहा जाय। पाठक महाशयोंको अब हम भगवान् श्रीकृष्ण के उस वचन का ध्यान दिलाते हैं, जिसमें उन्होंने कहा है कि :—

मामुपेत्य तु कौन्तेय
पुनर्जन्म न विद्यते।

—गीता ८। १६

अर्थात भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेने पर पुनर्जन्म नहीं होता। इसलिए भगवान् कृष्ण को प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। और जबतक पुनर्जन्म का उच्छेद नहीं, तबतक मुक्ति नहीं, जबतक मुक्ति नहीं, तबतक प्राणियों को सच्चा सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। अब प्रश्न यह उठता है कि—भगवान् के प्राप्त करने का क्या उपाय है? प्राप्त होने के उपाय को स्वयं जगदात्मा श्री कृष्ण कहते हैं कि—

सर्व द्वाराणि संयम्य
मनो हृदिनिरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योग धारणाम्।

—गीता ॥ ८। १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देह
स याति परमां गतिम्॥

—गीता ॥ ८। १३ ॥

अर्थात् सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटा कर (तथा) मन को हृदेश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके योग धारणा में स्थित हुआ जो पुरुष ॐ ऐसे (इस) एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप) मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है और सहज में प्राप्त होने के लिए भी बता रहे हैं कि—

अनन्य चेताः सततं
यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ
नित्य युक्तस्य योगिनः ॥

—गीता ॥ ८ । १४

अर्थात् हे अर्जुन जो पुरुष मेरे में अनन्यचित्त से स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरे को स्मरण करता है उस निरन्तर मेरे में युक्त हुए योगी के (लिए) मैं सुलभ हूं। अर्थात् योग से सहज ही में प्राप्त हो जाता हूं। तात्पर्य यह है कि भगवान के प्राप्त करने का साधन केवल योग ही है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म
दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः
संसिद्धिं परमां गताः ॥

—गीता ॥ ८ । १५

अर्थात् परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःख के स्थान रूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं।

और यही वास्तविक सुख है जिसको प्राप्त करके प्राणी हमेशा के लिए सुखी हो जाता है अथवा यों कहिए कि पूर्ण आनन्द स्वरूप ही हो जाता है।

—×०×—

आज की आवश्यकता

"विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। प्रेम ही विकास और स्वार्थता संकोच है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूल मन्त्र है। प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। इसलिए प्रेम प्रेम ही के लिए करो, क्योंकि एकमात्र प्रेम ही जीवन का ठीक वैसा ही आधार है, जैसा कि जीने के लिए श्वास लेना। निःस्वार्थ प्रेम, निःस्वार्थ कार्य आदि का यही रहस्य है।

"आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियां और फौलाद के स्नायु—प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जिसका प्रतिरोध दुनिया की कोई ताकत न कर सके, जो अगत के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो, फिर चाहे समुद्रतल में ही क्यों न जाना पड़े, साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े।

"संसार चाहता है चरित्र। संसार को आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जिसके हृदय में निःस्वार्थ प्रेम प्रज्वलित हो रहा है। उस प्रेम से प्रत्येक शब्द का वज्रवत् प्रभाव पड़ेगा। जागो, जागो ऐ महान् आत्माओ, जागो! संसार दुखाग्नि से जला जा रहा है। क्या तुम सोये रह सकते हो?"

—स्वामी विवेकानन्द

योगेश्वर चरित्र माला

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के सौजन्य से]

योगेश्वर चरित्र-माला में हमने आनन्दकन्द श्री गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के कितने ही अद्भुत चरित्र प्रकाशित कराये हैं किन्तु उनके जीवनकी इतनी अद्भुत कथायें हैं जो वर्णन करने में नहीं आ सकतीं। उनका एक-एक क्षण अद्भुत था उनका वार्तालाप अद्भुत था। उन्होंने यदि साधारण हास्यमें भी कुछ कह दिया तो, वह अमोघ वाणी होगई, मुझे इस समय उनके कई एक संस्मरण याद आ रहे हैं, जो सर्व साधारणों की तरह से किए गये, साधारण सी वाणी कही गई किन्तु उनका परिणाम बहुत ही उच्च कोटि का एवं पूर्णरूपेण सत्य सिद्ध हुआ।

दण्डी स्वामी की रोग मुक्तिः—

यह घटना लगभग सन् १९३४ ई० या ३५ ईस्वी की है, ऋषिकेश स्वर्गाश्रम में लाला जयदयाल गोयन्दका का सत्संग लगा करता था। उनके सत्संग में लाला चंडीप्रसाद नामके एक मारवाड़ी वैश्य आया करते थे। उन्होंने आश्रम में आकर सूचना दी कि स्वर्गाश्रम में एक दण्डी महात्मा तीन दिन से उदर-पीड़ा से पीड़ित हैं और उनके इलाज के लिए बड़े-बड़े डाक्टर एवं सिविल सर्जन आये हुए हैं, किन्तु उनकी उदर-पीड़ा में कोई भी किसी प्रकारका लाभ नहीं हो पाया है वे बहुत बुरी तरह से क्लेशित हैं। पानी के बिना मछली जिस प्रकार तड़पती है उसी प्रकार प्राण-रक्षा के लिए वे तड़प रहे हैं। लाला चंडीप्रसाद ने श्री प्रभु जी के चरणों में नम्र निवेदन किया कि आप किसी प्रकार उनकी सुरक्षा कर दीजिये। उन्हीं दिनों हमारे ऋषिकेश योग साधन आश्रम में पहलसिंह नाम के एक सिक्ख सरदार साधु रहते थे। श्री प्रभु जी ने आज्ञा दी कि इस पहलसिंह को ले जाओ यह उन्हें ठीक कर आवेगा। लाला चण्डीप्रसाद को और स्वयं पहलसिंह को भी यह शंका हुई कि जिस व्यक्ति के इलाज के लिए बड़े-बड़े ऊँचे डाक्टर एवं सिविल सर्जन तक पहुंच चुके हैं एवं प्रयत्न करने पर भी वे उनको कोई लाभ नहीं पहुंचा सके तो यह पहलसिंह साधारण अनभिज्ञ साधु क्या फायदा पहुंचा सकेगा? ये लोग साहस करके श्री प्रभु जी से पूछ ही उठे-प्रभो! पहलसिंह क्या साधना जानते हैं एवं

ऊँचो अपनी सफलता पर अभिमान ने भी जोरों से जकड़ लिया। चाहे जिसको वर देता चाहे जिसको शाप देता। मनुष्य के पतन में उसके अभिमान का ही कारण मुख्य होता है। ज्यों-ज्यों समय निकलता गया त्यों-त्यों उस महात्मा का अभिमान बढ़ता गया और दूसरों को दण्ड देने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। बहुतों ने उसे समझाया कि तुम्हें शान्त मुद्रा में रहना चाहिए। किसी के वैर-विरोध के प्रतिकार की चेष्टा इस उन्नत स्थिति में नहीं करनी चाहिए। पता नहीं किसका क्या अनिष्ट हो जाय। किन्तु वह किसी की भी बात नहीं सुनता था। विनाश काले विपरीत बुद्धि के नियमानुसार उसको कुमति ने नहीं छोड़ा, वह अपने कदम विपरीत भावनाओं की ओर बढ़ाता ही चला गया। होनहार उसको अपनी ओर खींच रही थी।

शक्ति का आकर्षण

एक दिन सत्संग के मौके पर एक हरिभक्त उसके सामने आया, और उसके विविध प्रकार के चमत्कारों को सुनकर विनय की कि महाराज आप तो बड़े प्रतापी हैं। आप कृपा करके मुझे भगवान श्यामसुन्दर के दर्शन करा दीजिए जिससे मेरा भी कल्याण हो जाये। किन्तु उस महात्मा ने क्रोध परिपूर्ण मन से कहा कि-'अरे दुष्ट! तू मेरे पास श्यामसुन्दर के दर्शन करने आया है। तू श्यामसुन्दर की अपेक्षा काले नाग के दर्शन क्यों न कर ले जो देखते ही तुझे खा जाय। और बहुत जल्दी तुम्हें यहां से छुटकारा मिल जाय, उस महात्मा का इतना कहना था कि वहीं एक निकटवर्ती झाड़खण्ड से एक भयंकर कृष्णवर्ण सर्प निकलता दिखाई दिया जो अपनी द्रुतगति से उस हरि भक्त की ही ओर बढ़ रहा था। किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ, वहाँ कुछ और ही दृश्य बन गया। उस हरिभक्त को शाप देने वाले महात्मा ने देखा कि श्री प्रभुजी सामने एक आराम कुर्सी पर बैठे हुए हैं, और बड़े जोर के शब्दों में कह रहे हैं 'अरे नीच महात्मा! हमारे हाथ से पत्थर लेकर हमारे ही सिर में मारता है।' यह कह कर अपने हाथ को उसके मस्तक की ओर फैलाया और तत्काल मुट्ठी बांध ली। परिणाम स्वरूप उस महात्मा के पास जो सिद्धि शक्तिका प्रकाश था वह सब श्री प्रभुजी ने खींच लिया और वह सिद्ध-शक्तिविहीन हो गया। इसके परिणाम स्वरूप थोड़ी देर बाद ही उस महात्माको एक बिच्छूने काट लिया। और वह सारी रात रोता-चिल्लाता ही रहा। प्रातःकाल होने के बाद लगभग १० बजे भिक्षा प्राप्त करने के लिये काली कमली वालों के क्षेत्र में साधु लोग जाने लगे और उसी समय पर यह महात्मा भी वहाँ पहुंचा। और श्री प्रभुजी के कमरे के सामने खड़ा होकर बुरी तरह चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा-'हाय मैं लुट गया! मैं मारा गया! मेरा सर्वस्व चला गया।' यह इस प्रकार चिल्ला रहा था। भिक्षा लेने वाले महात्मा देख रहे थे कि यह क्यों रो रहा है। उधर श्री प्रभु जी इसके सामने खड़े कह रहे थे-अरे भाई!

हमने तेरा क्या लूट लिया है। हम इस सामने वाले कमरे में ठहरे हैं। इसमें घड़ी, लोटा, छाता, चद्दर या और कोई तेरी वस्तु हो वह हमारे बिना पूछे उठाले और रो मत। किन्तु वह चुप नहीं हो रहा था रो ही रहा था। इतने में एक संन्यासी महात्मा आये और उन्होंने कहा कि—इसका तो विकास बहुत बड़ा था। यह बिच्छू और सांपों से खेलता था किन्तु कल रात को इसे किसी बिच्छू ने काट लिया है, कहीं इसका वही आत्म-धन तो आपने नहीं लूट लिया। उस महात्मा के ऐसा कहने पर यह साधु भी चिल्ला उठा कि मेरी वही निधि, मेरा वही खजाना इन्होंने लूट लिया है।

इतना कहने पर श्री प्रभु जी ने गम्भीर मुद्रा में कहा—भाई इस वस्तु का तू अधिकारी नहीं है पूर्वार्जित पुण्य-कर्मों के फल स्वरूप हमारा-तुम्हारा कुछ संस्कार था। उसी के फलस्वरूप यह वस्तु तुम्हें मिल भी गई थी। किन्तु तुम उसको सम्भाल नहीं सके। परिणाम स्वरूप वह वस्तु तुमसे जाती रही। अब एकान्त में बैठ कर ईश्वर का भजन करो जिससे तुम्हारा भी कल्याण हो और वर-शाप के झमेले से बचकर के सब प्रकार से नीरोग और स्वस्थ रह सको। इस प्रकार का उपदेश देकर श्री प्रभु जी ने उस महात्मा को समझा दिया। और कहीं एकान्त वनखण्ड में तपस्या करने की आज्ञा प्रदान कर दी। और वह साधु भी अपनी भूल को समझ कर नम्रता-पूर्वक प्रणाम करके एकान्त को चला गया।

"मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं?"

मानव अपने जीवन का लक्ष्य वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा की प्राप्ति को ही मान बैठा है। इन्हीं धन कमाने, पुत्रादि के लालन-पालन और नाम कमाने में वह रात-दिन लगा रहता है। यह प्रकृति ही की उपासना करता है। प्रकृति जड़ है, उसमें आनन्द नहीं। इसलिए प्रकृति की उपासना से उसको आनन्द करोड़ों जन्मों में भी नहीं मिल सकता।

परमात्मा आनन्दस्वरूप है और वह जीवात्मा के भीतर भी बैठा हुआ है। इसलिए जब मानव प्रकृति की उपासना से वैराग्य प्राप्त करके, अपने भीतर बैठे हुए परमात्मा की उपासना करना आरम्भ कर देता है, तो उसके दुःख दूर होकर, उसे शान्ति का अनुभव होने लगता है। शान्ति और आनन्द बाह्य पदार्थ नहीं, अपितु जीवात्मा के भीतर परमात्मा की अनुभूति से प्राप्त होते हैं। —श्री चन्द्रलाल वेदार्थी

मन एवं योग

[श्री सोमदत्त शर्मा बी. ए., बी-एड. सालवन (करनाल)]

मन एव मनुष्याणां कारणंबंधमोक्षयोः

—अष्टावक्र

मन प्रभु की एक ऐसी विचित्र रचना है कि जिसका रहस्य आज तक किसी को नहीं मिला। मन एक पल में हजारों, लाखों और करोड़ों मील की यात्रा कर वापिस आ सकता है। इसकी गति वायु से भी तीव्र तथा ध्वनि से भी तेज है। वैज्ञानिकों ने अणु से लेकर पर्वत तक की सभी वस्तुओं को नियंत्रणमें कर लिया। पृथ्वी से चांद पर जा पहुँचे परन्तु मन के विषय में कोई अनुमान तक भी नहीं लगा सके। मन पल में कुछ तथा पल में कुछ कर देता है। मन के हजारों रंग हैं जो क्षण-क्षण पश्चात् परिवर्तित होते रहते हैं। इसको एक रंग में रखना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव भी है। संत कबीर-दास ने कहा है:—

मन के बहुतक रंग है, छिन-छिन बदले सोय।
एके रंग में जो रहे, ऐसा बिरला कोय॥

अच्छा-बुरा कार्य जो भी होता है वह सब मन ही की देन है। भगवान् श्री रामचन्द्र जी द्वारा पिता की आज्ञा पर राज्य का त्याग तथा रावण द्वारा सीताहरण भी मन द्वारा संचालित कार्य थे। राजा-हरिश्चन्द्र जी के मन ने सत्य का पक्ष लिया और इसी कारण राज्य दान कर अनेकशः आपत्तियों को झेलते फिरे। प्रह्लाद भक्त का भी मन था जिसने पिता से वैर कर भगवत् भजन नहीं छोड़ा और अनेक प्रकार के अत्याचार करने वाला भी हिरण्यकश्यपु का मन ही था। अनेक प्रकार की चोरी डाके और हत्याओं आदि की जो घटनायें आज कल पढ़ने तथा सुनने को मिलती हैं वे सभी मन द्वारा संचालित होती हैं उन सबका प्रधान केन्द्र मन ही है।

मन संसार में महान से महान तथा नीच से नीच कार्य करवा सकता है। मन में धैर्य धारण करने के पश्चात् निर्बल व्यक्ति बड़े से बड़ा काम कर सकता है जब कि मन के हार जाने पर बहुत बड़ा वीर भी कुछ करने में समर्थ नहीं हो सकता। कबीरजी के शब्दों में—

मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत।
कबिरा सोई पाइये,
मन ही की परतीत॥

मन को स्थिर करने के लिए विश्वास रूपी सोपान पर चढ़ना पड़ता है। यदि किसी वस्तु पर हमें विश्वास हो जाता है तो हमारा मन स्थिर होने लगता है। मन एक समय में एक ही कार्य कर सकता है चाहे अच्छा करे या बुरा। यह उस व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि उसका मन पर कितना नियंत्रण है। यदि एक चालक जो कि किसी रेल गाड़ी को सौ मील प्रति घण्टा की गति से ले जा रहा है उसका इंजन पर पूर्ण नियन्त्रण है तो गाड़ी ठीक प्रकार से चलेगी यदि नहीं तो परिणाम भयंकर हो सकता है और चालक स्वयं रेलगाड़ी तथा उसमें सवार यात्रियों की हानि कर सकता है। मन मानव शरीर का इंजन है चाहे उसको दायें ले जायें चाहे उसको बायें ले जायें। कबीर जी के शब्दों में:—

कबिरा मन तो एक है,
चाहे जहाँ लगाय।
चाहे गुरु की भक्ति कर,
चाहे विषय कमाय॥

कहावत कहते सुने हैं कि अमुक व्यक्ति निन्यानवे के फेर में है। वह भी मन के ही कारण है। मन ही उसको निन्यानवे के फेर में डालता है। मन का फेर मिटाना बहुत कठिन है। कबीर जी मन के फेर के विषय में फिर कह उठे:—

माला फेरत जुग गया,
मिटा न मन का फेर।
कर का मन का डार के
मन का मनका फेर॥

नियन्त्रण की आवश्यकता:—

मन पर नियंत्रण की अति आवश्यकता है। किसी भी क्षेत्र में आप जायें मन के नियंत्रण की आवश्यकता होती है, उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति भगवान् का भजन करता है, हाथ से माला फेरता जाता है परन्तु मन पर नियंत्रण नहीं, मन कहीं दूर-दूर भ्रमण करता रहता है, तो उस भजन का कोई लाभ नहीं होता। मन मारने की बहुत आवश्यकता है। मन मारने से हत्या का भी पाप नहीं लगता। मन मारने के विषय में कहा है:—

मनवा मन को मारिये,
जो मारन मन होय।
मन मरने के बाद में,
दुश्मन रहे ना कोय॥

ऐ मानव! यदि तू किसी को मारने की इच्छा रखता है तो अपने मन को मार। मन मरने के पश्चात् संसार में कोई दुश्मन नहीं रहता। जब तक मन नहीं मरता अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती, सभी व्यक्ति अपने जैसे प्रतीत होते हैं। कबीरजी के शब्दों में:—

बुरा जो देखन मैं चला
बुरा न दीखा कोय।
जो मन देखूँ आपना
मुझसा बुरा न कोय॥

अन्तःकरण की शुद्धि होने के पश्चात् सभी व्यक्ति श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। मन एक दर्पण है जिस व्यक्ति का जैसा अपना मन होता है वैसा उसको दूसरे का प्रतीत होता है। श्री राम-विवाह प्रकरण में श्री तुलसी-दास जी कह उठे:—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

एक व्यक्ति के मन की तरंगें दूसरे व्यक्ति के मन में शीघ्र प्रवेश कर उसके मन की बात प्रायः समझ लेती हैं।

अतःकरण शुद्धि के पश्चात् मनुष्य संसार में निर्द्वन्द्व विचरता है। उसे सभी पुरुष श्रेष्ठ नजर आते हैं। हिंसक जानवर भी उसका अनर्थ नहीं कर सकते। सभी जगह सभी प्राणियों में उसे प्रभु की मूर्ति के दर्शन होते हैं। कवि के शब्दों में:—

लाली मेरे लाल की
जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई
मैं भी हो गई लाल॥

मन के नियन्त्रण में योग की देन:—

मन के नियन्त्रण में योग का बहुत महत्व है। बिना योग साधन के मन पर नियन्त्रण दुर्लभ ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। योग शास्त्र में कहा है "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" योग चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम है। मन की एकाग्रता योग का प्रथम सोपान है। जब तक योगी के मनकी एकाग्रता नहीं होती, मन पर नियन्त्रण नहीं होता वह अगला कदम नहीं बढ़ा सकता।

पहले कहा है कि एक व्यक्ति के मन की तरंगें दूसरे व्यक्ति के मन में प्रविष्ट करके उसके मन का पता लगा सकती है। इसी प्रकार शक्तिशाली और सामर्थ्यवान गुरु-देव द्वारा छोड़ी गई तरंगें साधक के मन में प्रवेश कर उसके अन्तःकरण को पवित्र बना देती हैं। इसीलिए योग में दीक्षा का प्रधान महत्व है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने है। सद्गुरुदेव भगवान् योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने भारतवर्ष के कोने-कोने में योग-दीक्षाद्वाराहजारों की संख्या में नर-नारियों, साधु-संन्यासियों तथा विरक्त जनों का कल्याण किया है। सामर्थ्यवान गुरु से दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् साधक धारणा द्वारा मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। मन एकाग्र होने के पश्चात् ध्यान तथा तत्पश्चात् समाधि की अवस्था आती है और इसी प्रकार मन पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण होने के पश्चात व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म में लीन हो जाता है। सांसारिक मोह-माया से उसका कोई लगाव नहीं रहता और श्री गुरुदेव जी की कृपा को पाकर वह अनुभव करने लगता है मैं ही ब्रह्म हूं, मैं ही शिव हूं।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए

साधक हर समय प्रयत्नशील रहता है और पूर्वोक्त पुण्य कर्म विपाक के उदय होने पर वह अपने स्वरूपस्थिति चरम लक्ष्य को प्राप्त कर पाता है। इसके लिए श्री गुरुदेव की परमानुकम्पा ही आधार है, जिसके लिए श्री गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में सीधे और स्पष्ट शब्दों में यथार्थ कह दिया है कि—'गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन, नयन अमिय दृग दोष विभंजन।' अर्थात् गुरुदेव के चरणों की रज ही हमारे अज्ञानान्धकार पूरित नेत्रों के लिए पवित्र सुहावना अंजन है, जो साधक की दिव्य-दृष्टि का ज्ञान करके भूत-भविष्य का ज्ञाता बना देता है।

विरूपता

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ॥

—सांख्य

व्याख्या—जैसे कमल कीच से उत्पन्न होता है, कमल का रूप दूसरा है और कीच का दूसरा अर्थात् उनका रंग-रूप एकसा नहीं है, वैसे ही, आत्मज्ञान प्रकृति से उत्पन्न होता है, किन्तु आत्मज्ञान और प्रकृति का रूप एक जैसा नहीं होता। सांख्य मत में प्रकृति को भोग और मोक्ष के साधनों को उपस्थित करने वाली माना है, इसलिए इस सूत्र में भी आत्मज्ञान को प्रकृति से उत्पन्न होना, कहा है। परन्तु प्रकृति दुःखरूप है, और मोक्ष में दुःख का आभास भी नहीं होता। कुछ विद्वानों ने इस सूत्र का भावार्थ यह भी किया है कि मलिन चित्त होने पर, गुरु का उपदेश टिकता नहीं, यदि कुछ ज्ञान हो भी जाय तो वह ऐसा नहीं होता, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

मत्स्येन्द्रनाथ का परकाया प्रवेश

[श्री विजयसिंह एम० एस-सी०]

आत्मा और चित्त दोनों व्यापक हैं, किन्तु शरीर द्वारा हो रहे सकाम कर्मों के कारण माया के विकार से बद्ध हुए रहते हैं। इसके साथ ही यह अस्थि, चर्ममय देह (शरीर) आत्मा नहीं है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर प्रकृति के अनेकों आवरण चढ़े हुए हैं। अतः हमें सारी साधनायें इन त्रैगुणी आवरणों को अनावृत करने के लिए करनी पड़ती हैं। सांसारिक (मायिक) बन्धनों से विहीन होकर ही मानव आत्मा के नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त रूप को देख और समझ सकता है। योग (चित्त वृत्तियों के निरोध) द्वारा आत्मा एवं चित्त दोनों में बन्धन का कारण शिथिल हो जाता है। ऐसी अवस्था में व्यापक चित्त 'चित्तवहा' नाड़ी के परिभ्रमण मार्ग को भली प्रकार जान लेता है। यह ज्ञात हो जाने से जीवात्मा को अपने को किसी भी शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करा सकना सम्भव हो जाता है। यथार्थतः अन्नमय कोश से प्राणमय कोश को उद्गम की क्रिया द्वारा ही परकाया प्रवेश की सिद्धि होती है। यह कार्य चित्त वृत्तियों के निरोध के बिना असम्भव है। अर्थात परकाय-प्रवेश योग की उक्त स्थितियों में ही सिद्ध हो सकता है। श्री शङ्कराचार्य जी के कथनानुसार "यथाभिध्यानाद्वा" अर्थात् ध्यान करनेवाले साधकों को स्वतः ध्यान की ही एक भूमिका में परकाय-प्रवेश की सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है। इस प्रकार जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में निश्चित रूप से स्थानान्तरण ही परकाया प्रवेश की क्रिया कहलाती है।

परकाया प्रवेश करने की ताकत वाले योगीजन, अपने जीवात्मा को उपर्युक्त विधि से एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित करके इस पसार संसार में काल को भी छलते हुये हजारों वर्ष तक जीवित रहते हैं। भगवद् गीता में वर्णित निम्न श्लोक के भाव को एक ही जन्म में पूर्व रूपेण चरितार्थ कर सकने की सामर्थ्य परकाया प्रवेश सिद्ध पुरुष में हुआ करती है। महाभारत पुराण रामायण तथा योग ग्रन्थों में इसके उदाहरण का बाहुल्य है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

गीता २-२२।

अर्थात् जिस प्रकार से मनुष्य पुराने वस्त्रों का (बिना किसी वियोग के) परित्याग करके नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग करके नये शरीर को धारण करता है।

हिमालय में रहने वाले किसी किसी महात्माओं परकाया प्रवेश की घटना सामान्य रूप से कई व्यक्तियों ने इस कलियुग में भी देखी है जिसका वर्णन तत्कालीनके पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है। वे महात्मा अपने शरीर के शिथिल एवं यौगिक साधना (हठयोग) के योग्य न रह जाने पर निम्न जातियों के किसी हृष्ट पुष्ट नवयुवक के शव को प्राप्त करके परकाय-प्रवेश की सिद्धि से अपने आत्मा को हजारों वर्षों तक इस संसार में कायम रखते हैं। यहाँ नाथ सम्प्रदाय के महासिद्ध योगी श्री मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बंधित परकाय-प्रवेश की घटना का वर्णन किया जारहा है।

एक बार श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी अपने प्रिय शिष्य गोरक्षनाथ के साथ भ्रमण करते हुये प्रयाग नगरी में जा पहुंचे। दैव संयोग से उसी दिन इस राज्य के प्रजापालक न्यायप्रिय राजा श्रीविक्रम का देहावसान हो जाने से सारी नगरी शोकाग्नि से संतप्त हो रही थी। सभी मकानों में नीरवता का साम्राज्य छाया हुआ था। श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी राजपथ से चलकर राजमहल में पहुंच गये। यहाँ का सारा दृश्य बहुत ही करुणोत्पादक एवंहृदय-विदारक था, रानियाँ ऊँचे स्वरों से जोर-जोर से क्रन्दन कर रही थीं। सेवक राज्य कर्मचारी शव के समीप खड़े रुदन कर रहे थे। विक्षिप्त हुयी रानियाँ राजा के मृतक शरीर से लिपट-लिपट कर अनेक प्रकार के मार्मिक शब्दों को कहती हुई विलाप कर रही थीं। इस वातावरण का युवक शिष्य गोरक्षनाथ के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा।

माया के वशीभूत जीवों पर भी प्रभु की अहैतुकी कृपा की वृष्टि होती ही रहती है। उसका तो विधान ही अत्यन्त विचित्र है। दयाद्रभूत हुये गोरक्षनाथ ने गुरुदेव से अनुरोध किया कि प्रभो! सारा राज्य अनाथ सा हुआ इस मृत्यु दुःख से आक्रान्त होकर आहि-त्राहि कर रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि राजा निःसन्तान था। राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा? इस विषय से पीड़ित सभी राज्य कर्मचारी व्यथित हैं। आप इनकी रक्षा करें क्योंकि आप जन-कल्याण हेतु ही सभी जगह भ्रमण करते रहते हैं। ऐसा सुनकर श्री मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरक्ष-नाथ को समझाते हुये कहा वत्स! मृत्यु कोई शारीरिक व्याधा तो है नहीं जिस पर दिव्य औषधियों या मंत्रों का प्रभाव डालकर ठीक किया जा सके। मृत्यु केवल ईश्वरीय आज्ञा-नुसार हुआ करती है। अतएव वह आज्ञा कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता है। गुरुदेव के

वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनकर गोरक्षनाथ ने पुनः प्रार्थना की कि निःसन्देह आपका कथन सत्य है परन्तु यह सब बंधन उनके लिए है जो व्यक्ति प्रकृति के आधीन हैं। आप काल जयी हैं। अतः आप सब कुछ कर सकने में समर्थ हैं। आपकी यदि आज्ञा हो जावे तो मैं यह कार्य सिद्ध कर डालूँ परन्तु आपके समक्ष मेरा करना अनुचित एवं अमर्यादित होगा। गोरक्षनाथ के सरल एवं युक्तिपूर्ण भावों को जानकर मत्स्येन्द्रनाथ जी आभ्यन्तरिक रूप से अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रकट रूप से उन्होंने कहा वत्स! मैं तेरी इच्छानुसार स्वयं बारह वर्ष के लिए इस राजा के शरीर में प्रवेश करूँगा तथा राज्य के वर्तमान संकट को दूर करके पुनः अपने निश्चित कार्य की ओर अग्रसर हो सकूंगा।

दिव्य दृष्टि से यह जानकर कि राज्य से बाहर अमुक स्थान पर एक मंदिर के प्रांगण में हर प्रकार से सुरक्षित एवं दुर्भेद्य गुफा है। श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी अपने शिष्य-गोरक्षनाथ के साथ उपर्युक्त स्थान पर जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने योग स्थिति में अपने जीवात्मा को परकाय कलेवर से निकालकर जलाने के लिए लेजा रहे मृतक राजा के शरीर में प्रवेश करा दिया। जीवात्मा के प्रविष्ट होते ही मृतक राजा त्रीविक्रम सोते से जाग उठे व्यक्ति के समान चेतना को प्राप्त हुआ तथा लोगों से व्यावहारिक लीला करनेके लिये पूछा मैं कहाँ हूं? तुम सभी शोकयुक्त क्यों हो? लोगों ने सविस्तार घटना प्रगट की। जिसे राजा के रूप में प्रकट हुये श्री मत्स्येन्द्रनाथ जानते ही थे। यह अद्भुत समाचार राज्य में द्रुतगति से प्रचारित हो उठा। लोग राज द्वार पर असंख्यों की संख्या में एकत्रित होने लगे। मंगलमय वाद्ययन्त्र बज रहे थे। रनिवास पुनर्जीवन को प्राप्त हुआ अपार हर्ष में डूबा जा रहा था। उधर श्री गोरक्षनाथ ने गुरुदेव के शरीर को संशोधित कर गुफा में रख दिया तथा गुफा द्वार को भली प्रकार बंद करके स्वयं उस मन्दिर में रहने लगे।

समय व्यतीत होता गया। दिन पर दिन व्यतीत होते गये। ऊपर वर्णित रहस्य को गोरक्षनाथ के अतिरिक्त और जानने वाला कोई नहीं था। एक दिन गोरक्षनाथ जी के मन में विचार आया कि अभी गुरुदेव को अपने परकाय कलेवर में पुनः प्रवेश करने को बहुत वर्ष शेष हैं। अतः कुछ काल तक निकटवर्ती देशों का भ्रमण कर लूं तथा मुमुक्षुजनों का संसारानल में दग्ध होने से बचा कर उन्हें योगकरी अमोघ विद्या का मर्म समझा दूं। इसी आशय से एक दिन उन्होंने मन्दिर के पुरोहित पर श्री मत्स्येन्द्रनाथ के परकाया-प्रवेश की सारी घटना प्रगट कर दी तथा चेतावनी देकर कहा कि—इसे अन्य पर मत प्रकट करना। ऐसा कह कर वे पर्यटनहेतु निकल पड़े। इधर गोरक्षनाथ के चले जाने पर योग के मर्म को न जाननेवाला साधारण पुजारी बड़ी मानसिक असमंजसता को प्राप्त हुआ। वह यह सोचकर अत्यन्त भ्रमित हो जाता था कि भला

किसी दूसरे के शरीर में कोई दूसरा कैसे प्रवेश कर सकता है। अवश्य ही यह बात तथ्य पूर्ण नहीं है। अतः इस बात को उसने अपनी पत्नी पर प्रकट कर दिया। कर्ण परम्परानुसार गुप्त रूप से यह बात रानियों तक महल में जा पहुंची। रानियों ने भी अपनी बुद्धि का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए कुछ दासों को गुप्त रूप से आज्ञा दे दी कि यदि मन्दिर में किसी भी व्यक्ति का मृत शरीर हो तो तुम लोग उसे बिल्कुल नष्ट कर देना, जिससे कि वह शरीर किसी कार्य योग्य न रह जावे। दासों ने मन्दिर में पहुंच कर आज्ञानुसार श्री मत्स्येन्द्रनाथ के शरीर को काटकर छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर डाला। अब रानियां निश्चिन्त हो गयी थीं कि यदि महाराज श्रीविक्रम के रूप में कोई सिद्ध योगी है तो ऐसा अमर-पति अब सदा हमारे साथ रहेगा।

काल का चक्र चलता रहा। दिन महीनों में, महीना वर्षों में बदलते गये। इसी समय के बीच शुभ्रमति धर्मपरायणा प्रमुख रानी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो हर प्रकार से उत्तम गुणों वाला था। इधर अब बारह वर्ष व्यतीत होने को थे तो श्री गोरक्षनाथ पर्यटन से लौटकर मंदिरमें पधारे। उन्होंने अब गुफा द्वार से प्रविष्ट होकर अन्दर देखा तो वहां उनके गुरुदेव के शरीर के टुकड़े अस्त-व्यस्त रूप से जमीन पर पड़े थे। ध्यानद्वारा गोरक्षनाथजी ने अपने अनुपस्थितिमें घटी घटनाको जान लिया तथा मन में हंसे कि रानी एवं उनके दासों द्वारा गुप्त रूप से किया गया यह कार्य कितना अज्ञानपूर्ण है। समर्थ योगी नयी सृष्टि की रचना कर सकता है। एक कटे-फटे अंगों को पुनः निर्मित करना उसके लिए क्या महत्त्व रखता है। अतः मंत्रोपचार द्वारा अल्प समय में ही उन्होंने कटे टुकड़ों से ही पुनः श्री गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथजी का कलेवर तैयार कर लिया। बारह वर्ष व्यतीत होने पर फिर से श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी ने राजा श्रीविक्रम के शरीर से अपनी जीवात्मा को अपनी अपने कलेवर में प्रवेश कराया और पूर्व की भांति जगह-जगह मुमुक्षु जनों को योगरूपी दृढ़ नौकाद्वारा इस संसार-सागर से संतरित होने का सहज साधन प्रदान करना शुरू कर दिया।

जैसा कि किसी कार्य-सिद्धि के हेतु मनुष्य को कुछ कर्म सुचारुरूप से करने ही पड़ते हैं। परकाय प्रवेश सिद्धि करने के समय भी नियमित आहार, नियमित चर्या तथा नियमित ध्यान की अनिवार्यता चित्त की शुद्धि के लिए अवश्य करना पड़ता है। परकाय-प्रवेश योग के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः योगयोगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण जी के वचन पर चलकर ही कोई भी योग का सफल साधक बन सकता है।

युक्ताहार विहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा॥

—×•×—

बिन गुरु निर्गुन जग को पावा

[श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., बी-एड.]

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान बहुत ही पूज्य तथा उत्कृष्ट है। यह सुरसरि-सा पावन तथा ब्रह्म-सा महान माना जाता है। कानों में 'गुरु' शब्द के पड़ते ही अन्तःकरण पर एक विशाल व्यक्तित्व मयी मूर्ति अंकित हो जाती है और हृदय से श्रद्धा, भक्ति एवं अनुराग की वह रसवती त्रिवेणी प्रवाहित हो उठती है जो निखिल कल्मषताप को अपने पुण्य-वारि से प्रक्षालित कर उसमें अपूर्व शान्ति का अक्षय भण्डार भर देती है।

गीता के अनुसार वट-वृक्ष की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे चारों ओर फैली हुई हैं। ऊर्ध्व मूलमधः शाखा (गीता पन्द्रहवां अध्याय श्लोक १) गुण इस वृक्ष के पोषक और अंकुर इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ हैं। जड़ें जिनका कारण भूत कर्म है वे सृष्टि के मानवों की ओर फैली हुई हैं। इस वृक्ष की रचना बड़ी ही विचित्र है। न तो इसके आकार उद्गम और अन्त का ही भान होता है और न ही इसके आश्रय का। इस कठोर जड़युक्त विशाल वट-वृक्ष को वैराग्य के अमोघ शस्त्र द्वारा नष्ट करने के हेतु किसी बाह्य मार्ग का अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि इस अगाध संसार में आवागमन से मुक्ति प्राप्त हो। इस पथ पर अग्रसर होने के लिए किसी योग्य दिग्दर्शक (गुरु) की नितान्त आवश्यकता है। कोई कितना ही विद्वान, वेद और वेदान्त में पारंगत क्यों न हो वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकता जब तक कि उसकी सहायतार्थ कोई योग्य पथ-प्रदर्शक न मिल जाये जिसके पदचिन्हों का अनुसरण करने से ही प्राणी भव से मुक्त हो जाता है

तत्वं गृह्णाति (उपदिशति) इति गुरुः

अर्थात् जो गृह्णाति गुह्य तत्व का उपदेश दे उसे गुरु कहते हैं। 'गृ शब्दे' (शब्दे करणे) धातु से कृदोरुच्च इस सूत्र द्वारा 'कु' प्रत्यय करके 'गुरु' की निष्पत्ति की जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान विज्ञान के रहस्य का विश्लेषण करने वाला गुरु होता है। इसीलिए समाज में गुरु का स्थान बहुत ही

महत्वपूर्ण है।

गुरु की सहायता के बिना कोई भी साधक अपने साधना मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। गुरु का शाब्दिक अर्थ भी उसकी महनीयता तथा गरिमा का स्पष्ट द्योतक है। गुरु शब्द 'गु' अन्धकार का वाचक माना जाता है और 'रु' उसका दूर करने वाला। फलतः गुरु वह व्यक्ति होता है जो अपने ज्ञान की सहायता से साधक के चित्त को मलिन बनाने वाले और उसकी दृष्टि को बन्द करनेवाले अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर कर देता है तथा उसके नेत्र का उन्मीलन कर देता है:—

उपनिषद् में गुरु शब्द का यही अर्थ इन शब्दों में प्रकट किया है :—

गु शब्दस्तु अन्धकारः
स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधक।
अन्धकार निरोधित्वाद्
गुरुरित्यभिधीयते ॥

—योगोपनिषद् ।१६।

तथा च: —

अज्ञान तिमिरान्धस्य
ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन
तस्मै श्री गुरुवेनमः ॥

गुरु की विशेषता बताते हुए कहा है—जिस प्रकार अन्धकार में दीपक के बिना दिखाई नहीं पड़ता है उसी प्रकार बिना गुरु के धर्म और यथार्थ व्यक्ति को स्पष्ट नहीं होता है।

कलि काल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य जी ने अपने योग शास्त्र में गुरु के लक्षण और गुणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उक्त ग्रन्थ में कुगुरु का लक्षण बताते हुए कहा है सभी वस्तुओं की अभिलाषा करने वाला, सर्व-भोजी, सपरिग्रह, अब्रह्मचारी, मिथ्योपदेशी व्यक्ति गुरु नहीं होता। और अच्छे गुरु (सद्-गुरु) का लक्षण बताते हुए योग शास्त्र में लिखा है। पांच महाव्रत धारण करनेवाला, धीर, निमंत्रण रहित भिक्षा से जीवन यापन करने वाला, सामयिक धारण करनेवाला जो धर्मोपदेशक है वही गुरु है।

अद्वयतारकोपनिषद् में आचार्य के लक्षण बताते हुए कहा है—

आचार्यो वेद सम्पन्नो
विष्णु भक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च
सदा योगात्मक शुचिः॥
गुरु भक्ति समायुक्तः
पुरुषणो विशेषतः।
एवं लक्षण सम्पन्नो
गुरुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न जो हो उसे ही सद्गुरु कहा जाता है।

तन्त्रसार में गुरु का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :—

शान्तो दान्तो कुलीनश्च
विनीतः शुद्धवेषवान्।

शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः
शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च
मंत्र-तंत्र विशारदः।
निग्रहानुग्रहे शक्तो
गुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् जो शम-दम से मन तथा इन्द्रियों पर विजय पा चुका हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, पवित्र शुद्ध वेष एवं विनययुक्त हो। सदाचारी एवं सुप्रतिष्ठित हो, पवित्र, दक्ष एवं बुद्धिमान् हो। जो आश्रम धर्मों का ठीक पालन करनेवाला, ध्याननिष्ठ, मन्त्र-तन्त्र विशारद और शाप-वरदान में समर्थ हो उसे ही गुरु कहा जाता है।

शारदा तिलक में सद्गुरु का लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

मातृतः पितृतः शुद्धः
शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः
सर्वशास्त्रार्थ तत्ववित् ॥
परोपकार निरतः
जपपूजादि तत्परः।
अमोघ वचनः शान्तः
वेद वेदार्थ पारगः ॥
योगमार्गानुसंधानी
देवता हृदयंगमः।
इत्यादि गुण सम्पन्नो
गुरुरागम सम्मतः ॥

नारद-पुराण में भी यही बात कही गई है :—

सुन्दरः सुमुखः शान्तः
कुलीनः सुलभोवशी।
मन्त्रतत्वार्थ तत्वेज्ञ
निग्रहानुग्रह क्षमः ॥
नित्यानुष्ठान संयुक्तः
सचाचार्यः प्रकीर्तितः।

आगम संहिता में गुरु का लक्षण इस प्रकार बताया है :—

बुद्धतुं चैव संहर्तुं
समर्थो ब्राह्मोत्तमः।
तपस्वी सत्यवादी च
गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥

अर्थात् जो उद्धार करने में समर्थ हो, तपस्वी तथा सत्यवादी हो, ऐसा गृहस्थ ही गुरु कहा गया है।

भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस सदैव कामिनी और कांचन के त्याग की ही बात कहा करते थे। कहते थे कि यदि मानव उसमें उलझ गया तो वह आत्म-कल्याण पूर्णरूपेण नहीं कर सकेगा। वे स्वयं भी उससे बहुत दूर भागते थे। कहते हैं कि एक बार परमहंसजी कहीं गए हुए थे तो पीछे स्वामी विवेकानन्दजी ने उनके बिस्तर के नीचे एक रुपया रख दिया। जैसे ही परम-हंसजी आकर उस बिस्तर पर बैठे वह तुरन्त चौंक पड़े। उन्हें ऐसा लगा जैसे किसी विषैले जीव ने उनको काट लिया है। बिस्तर देखा गया तो उसमें रुपया मिला। वह तो

अन्तर्यामी थे। सभी स्थिति समझ गये। तुरन्त ही विवेकानन्द की पीठ ठोंक कर कहने लगे कि—तूने ठीक किया। गुरु बनाने से पहिले उसको ठोंक बजा कर अच्छी तरह से परीक्षा कर लेनी चाहिए। कहने का मतलब यह है कि मानव को इस भवसागर से पार उतरने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है।

शंकराचार्यने भी विवेकचूड़ामणि में तत्व-जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाने का उपदेश दिया है सन्तों ने भी इसे ही प्रतिपादित किया है।

इक लख चन्दा आनि धर,
सूरज कोटि मिलाय।
दादू गुरु गोविन्द बिन,
तो भी तिमिर न जाय॥

इतना ही नहीं बल्कि :—

घट-घट राम रतन है,
दादू लखै न कोई।
सद्गुरु शब्दों पाइए,
सहजे ही यमि होई॥

वास्तव में सद्गुरु की आवश्यकता का कारण यह है कि साधक को अपने साधना काल में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, अनेक प्रकार की शंकायें आती है। ये शंकायें कभी-कभी इतनी भयंकर हो जाती हैं कि साधक अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में साधक अपने सद्गुरु से अपनी शंकाओं की निवृत्ति करा सकता है।

साधना का मार्ग बड़ा ही रहस्यमय है। साधना का लक्ष्य अलौकिक होता है। इसी-लिए साधना का स्वरूप भी अलौकिक होता है। साधक इस साधना के स्वरूप से उसके रहस्यों से अनभिज्ञ होता है। जब तक कोई ऐसा गुरु नहीं मिल जाता जो साधना में सफलता प्राप्त कर चुका है तब तक कोई भी साधक अपनी साधना को मर्यादित नहीं कर सकता। जो व्यक्ति नदी को पार कर चुका है वही तो उसके जल की थाह बता सकता है, उसके विषय में सही ज्ञान करा सकता है। इसी प्रकार जिसने साधना के रहस्यों को समझ लिया है, जो शंकाओं तथा विघ्नों से पार जा चुका है वही तो शिष्य को साधना के रहस्य समझा सकता है तथा उसकी शंकाओं को दूर कर सकता है।

कबीर ने तो गुरु के महत्व का वर्णन मुक्त कंठ से किया है। उनके लिए तो गुरु तथा गोविन्द दोनो में कोई भेद नहीं है। गुरु तो गोविन्द का दूसरा रूप ही है

गुरु गोविन्द तौ एक है,
दूजा यहु आकार।

इसलिए जो व्यक्ति गुरु की सेवा में अपने आप को मिटा देता है वही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। कबीर तो अपने गुरु पर अपने प्राण भी न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं क्योंकि उन्होंने कबीर को मनुष्य से देवता बना दिया है। वास्तव में वह अपने गुरु के उपकारों को भुला नहीं सकते।

श्री सद्गुरु देव पर मपद अर्थात् ब्रह्म रूप

हैं और वे गुरुदेव परम प्राण अर्थात् प्राणों के भी प्राण हैं। प्राण जिस सत्ता के आश्रित हैं वह सत्ता उनका वास्तविक रूप है। गुरु परम पिता है शिष्य के लिए पिता से भी अधिक हितकर हैं। पिता लौकिक वस्तुएं दे सकता है आत्म-ज्ञान नहीं, परन्तु गुरुदेव शास्त्र तथा मन्त्रों द्वारा संतोषरूपी परम निधि को देनेवाले हैं। उपदेश द्वारा सबको परम सुख देते हैं। जीव ब्रह्म की एकतारूप जो परम रहस्य है वह अपने शिष्यों को बताते हैं। गुरुदेव परममुक्त हैं और शरणागतों को संसार से मुक्त करते हैं।

गुरुदेव के पास रहने की याचना प्रभु से करनी चाहिए। जिस प्रकार सर्प अपनी मणि पृथ्वी पर रख देता है फिर उसके प्रकाश से जो भी लघु जीव वहाँ आते हैं उनसे अपनी क्षुधा निवारण करता है वैसे ही शिष्य को भी गुरु के संग रहने से ज्ञान-रूपी प्रकाश प्राप्त होता है तथा निराशा दूर होती है।

जिस प्रकार योगी पारे आदि औषधियों से बनाई हुई गोली को मुख में रख कर (धारण करके) आकाश में उड़ने लगता है उसी प्रकार शिष्य गुरु के मन्त्र से ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मरूपी आकाश में उड़ने लगता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है। गुरु के साथ रहने से संसार-सागर में डूबनेवाला प्राणी भी संसार को पार कर जाता है। यह कैसे आश्चर्य और हैरानी की बात है कि जिस प्रकार नाव पत्थरों को भी नदी से पार कर देती है उसी प्रकार गुरु जड़ मति कामनाओं को भी अविद्यादि से पार कर देते हैं। यह गुरु-संगति का कार्य कितना आश्चर्य रूप है। जैसे मोर पंख से निकले हुए तांबे के बनाये हुए मणियों में जितना धागा रहता है उसे अग्नि नहीं जलाती वैसे ही शिष्य जब तक गुरु के संग में रहता है तब तक उसे चिन्ता नहीं जलाती।

सद्गुरु का प्रभाव बताते हुए रज्जब जी ने तो यहाँ तक कहा है :—

गुरु प्रसाद अगम अति पावै,
पलटे जीव ब्रह्म ह्वै आवै।
हरि भृङ्गी गुरु डंक समान,
मारत तन्मय भए जु प्रान।
चन्दन राम सुगुरु गति वास,
भेदै भेद नहीं घन दास।
ब्रह्म सूर गुरु किरण प्रकाश,
रज्जब जिव जल परसि अकाश॥

अर्थात् गुरु के कृपा प्रसाद से जीव अगम ब्रह्म में जाने की योग्यता प्राप्त करता है। जीव भाव से बदल कर ब्रह्म हो जाता है। हरि भृंगी के समान है गुरु भृंगी के डंक के समान है। जैसे भृंगी का डंक लगने से कीट बदल कर भृंगी बन जाता है वैसे ही गुरु के उपदेश से जीव हरि रूप ही हो जाता है। राम चंदन के समान है सुगुरु चंदन की सुगन्ध के समान है। जैसे चंदन की सुगन्ध से खिंच होकर राम रूप ही हो जाता है राम से उसका

भेद नहीं रहता। ब्रह्म सूर्य के समान है गुरु उसकी किरण के समान है। जैसे सूर्य किरण के स्पर्श से जल आकाश हो जाता है वैसे ही गुरु के ज्ञान प्रकाश से मुक्त हो कर जीव ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाता है।

पार्वती जी ने भी एक बार शंकर जी से सद्गुरु के विषय में पूछा था कि हे देव! आप अपने मुख से सद्गुरु के महात्म्य को कहें। शंकर जी ने कहा कि :—

गुरु सेवा परंतीर्थं
मन्यतीर्थं निरर्थकम्।
सर्वं तीर्थानि देवेशि
सद् गुरोश्चरणाम्बुजे।

अर्थात् हे महादेवी! सद्गुरु सेवा परम-तीर्थ है अन्य तीर्थ निरर्थक है कोई फल नहीं प्राप्त होता है। हे देवि सद्गुरुदेव के चरण कमल सर्व तीर्थ है।

चरण कमल ही नहीं अपितु उनके पैर के अंगूठे का ही इतना प्रभाव है—

सर्वं तीर्थफलं देवि
पदांगुष्ठे च वर्तते।
अतः पूर्वं मया देवि
न कस्य कथितं प्रिये॥

अर्थात् सद्गुरु के पैर के अंगूठे में सब तीर्थों का फल विराजमान है। जब अंगूठे को माथे से और नेत्रों से लगाते हैं तो सब तीर्थों का फल मिल जाता है। नेत्रों में तथा हृदय में प्रकाश हो जाता है. मैंने इस बात को अभी तक किसी से भी नहीं कहा है। भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन के यह कहने पर कि वास्त-विक स्वरूप को दिखाओ कहा कि—

"दिव्यं ददामि ते चक्षुः।"

रामायण में लिखा है कि —

श्री गुरु पद नख मणिगण ज्योती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

अर्थात् जो सद्गुरु के नख का स्पर्श करते हैं और नेत्रों से लगाते हैं उनके हृदय में सत्य स्वरूप का प्रकाश जो है उसमें स्थिति कर लेते हैं।

महादेव जी ने स्वयं विष्णु भगवान से कहा था—

मातु पिता प्रभु गुरु की बानी।
बिनहि बिचारि करिय शुभ जानी॥

शिवजी कहते हैं कि :—

ते शिर कद्दू तुमड़ी सम तूला।
जे न नमहि हरि गुरु पद मूला॥

हे पार्वती अर्थात् जो सद्गुरु के चरणों में माथा नहीं झुकाते वह सिर कड़वी तुमड़ी या लौकी के समान है। याद रखो उसे कोई व ग्रहण नहीं करता है काट कर फेंक देते हैं।

शास्त्रों में गुरु को एक ऐसा ऋणदाता बता या गया है जिससे उऋण होने के लिए संसार में कोई वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। इस सम्बन्ध में महर्षि 'हारीत' का मत है –

एक मप्यक्षरं यस्तु
गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
प्रशिष्यां नास्ति तद् द्रव्यं
यद्दत्वा त्वनृणी भवेत्॥

अर्थात् यदि गुरु ने एक अक्षर भी शिष्य को सिखाया है तो उसके लिए पृथ्वी में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसे देकर शिष्य गुरु-ऋण से मुक्त हो सके।

श्रद्धा-भक्ति के साथ गुरु की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि श्रद्धाहीन क्रियायें प्रायः निष्फल हो जाती हैं। श्रद्धा के बिना साधक को सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्ति कर सकता है—

'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्'

—गीता

महर्षि पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध 'पातञ्जल योग दर्शन' में साधक के लिए श्रद्धा को सर्व प्रमुख साधन माना है :—

श्रद्धा वीर्य समाधि
प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

इसी प्रकार महर्षि गौतम भी इष्ट-सिद्धि में श्रद्धा भावना को आवश्यक तथा अनिवार्य मानते हुए कहते हैं :—

मन्त्रे, तीर्थे, द्विजे, देवे,
देवज्ञे, भेषजे, गुरौ।
यादृशी भावना यस्य,
सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अर्थात् मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि और गुरु इनमें जिसको जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। श्रद्धा के बल पर ही एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य को धनुर्विद्या में वह अपूर्व कौशल दिखाया कि स्वयं गुरु भी आश्चर्य में पड़ गये।

अन्त में जनहित की कामना करती हुई यह कह कर मैं इस लेख की समाप्ति करती हूं :—

गुरु चरणाम्बुज निर्भर भक्तः
संसाराद् चिराद् भव मुक्तः।
सेन्द्रिय मानस नियमा देव
द्रक्ष्यसि निज हृदयस्थं देवम्॥

अर्थात् :—

गुरु पद पद्म अनन्य भक्त हो
भव बन्धन से शीघ्र मुक्त हो।
जो इन्द्रिय मन जीत सकेगा,
हृदयस्थित निज देव लखेगा॥

छः बान्धव हैं

सत्यं माता, पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्ति पत्नी क्षमा पुत्रो षड़ेते मम बान्धवाः॥

सत्य मेरी माता है, ज्ञान पिता है, धर्म भाई है, दया मित्र है, शान्ति पत्नी है और क्षमा पुत्र है—ये छः मेरे बान्धव हैं।

सवांई-धाम

[श्री जुगमन्दिरदास जी]

स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम ॥
कण-कण में जिसके रमते हैं प्रभु सिद्धेश्वर राम।
जहां विराज रहे मन मोहन करुणा निधि सुख धाम॥
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम।
प्यारा परम सवांई धाम॥
शस्य श्यामला धरती जिसकी फूले फले निकुंज।
योग-अग्नि से जल जाते हैं जहाँ पाप के पुंज॥
मुक्ति का मिलता मार्ग सुलभ।
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम॥
राग छोड़ वैराग्य रंग में रंगते जहाँ कुरङ्ग।
पशु-पक्षी भी प्यार प्रेममय पाते जहाँ सुसंग॥
बरसती जहाँ शान्ति अविराम।
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम॥
शक्ति और शिव के साधक सब होते हैं तद्रूप।
जहाँ ध्यान योगी समाधि का पाते ध्येय अनूप॥
जिसे कहते हैं हम गुरु-धाम।
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम॥
जहाँ आरती की ध्वनि करती जन-जन का कल्याण।
जहाँ शक्तिहीनों का होता शक्तिपात से त्राण॥
जहाँ प्रभु मिलते आठों याम।
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम॥
कभी भूमि गत गुफा बनाकर जहाँ रमे प्रभु राम।
चारु 'चन्द्रमोहन' की लीला का है जो अब धाम॥
स्वर्ग सा सुखद सवांई धाम।

योग चर्चा

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

[पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी के सौजन्य से]

एक साधक ने एक दिन आकर विनीत भाव से कहा :—

प्रश्नः—गुरुदेव ! वैराग्य का क्या स्वरूप है ? कृपा करके समझाइये। आजकल के साधुसमाज में भस्म रमाने वाले भांग-धतूरा खाने वाले, निश्चिन्त अलमस्तों की तरह पड़े रहकर अपने आप को विरक्त बतलाते हैं। क्या वैराग्य की यही परिभाषा है ?

उत्तरः— सोम्य ! वैराग्य की यह परिभाषा नहीं। रामलीला और कृष्णलीला में राम और कृष्ण का अभिनय करने वाले लोग राम-कृष्ण नहीं बन जाते। वह तो राम-कृष्ण का स्वाँग ही रहता है। जो लोग अपनी लम्बी-लम्बी जटायें बढ़ाकर शरीर में विभूति रमाकर भांग-धतूरा खाते हैं और अपने को वैरागी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे मिथ्याचारी कहलाते हैं। अखिल लोक-पावन जगदात्मा श्री कृष्णजी ने स्पष्ट कहा है कि :—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

अर्थात् कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके जो लोग इन्द्रियार्थों का मन से चिन्तन करते रहते है वे लोग मिथ्याचारी कहलाते हैं, इसलिये जो साधु लोग भांग-धतूरा खाकर एवं लम्बी लम्बी जटायें बढ़ाकर वैरागियों का वेष धारण करके मन से इन्द्रियार्थों का चिन्तन करते हैं वे लोग विरक्त नहीं प्रत्युत दम्भी कहला सकते हैं। सच्चा वैरागी वह है जो अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों के चिन्तन से दूर रक्खे। भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग दर्शन में वैराग्य की दो प्रकार की परिभाषायें लिखी हैं। उनमें से पहली संज्ञा वशीकार वैराग्य की है।

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् मनुष्य लोकमें स्त्री अन्नपानादि, देखे हुए विषय और स्वर्ग लोकादि के सुने हुए विषय इन दोनों प्रकार के देखे सुने हुए विषयों से मन को हटा करके जो अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है वह व्यक्ति वशीकार संज्ञा का प्रतीक है जो मनुष्य वशीकार संज्ञक वैराग्य को प्राप्त कर लेता है उसका इन्द्रिय निग्रह इतना ऊँचा बढ़ जाता है, कि उसको कोई भी साधारण एवं असाधारण विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। और शनैः-शनैः अभ्यास करता हुआ वह पवित्र साधक ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है उस की बुद्धि वृत्ति में सदा-सर्वदा सत्य ही वास करता है। निर्वाणोन्मुखी वृत्ति का उदय होने लगता है। निर्वाणोन्मुखी वृत्ति सभी वृत्तियों का उपशमन करके आप भी अपने आप को भी समाप्त कर लेती है। और आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम पर-वैराग्य है।

भगवान् पतंजलिदेव ने पर वैराग्य की जो परिभाषा लिखी है वह इस प्रकार है :—

तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

अर्थात् वशीकार संज्ञा वाला योगी अब संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है तो स्वाभाविक ही गुण वितृष्ण हो जाता है। इस वैराग्य को पर-वैराग्य कहा है। इस वैराग्य को प्राप्त होने वाला योगी उन्मत्त स्थिति के अन्दर रहा करता है। ऐसे विरक्ति का स्वरूप समझाते हुए श्री भर्तृहरिजी महाराज ने अपने वैराग्य-शतक में एक श्लोक कहा है। शान्त भाव से खड़े किसी मुनि को देखकर सांसारिक मनुष्य तरह-तरह की कल्पनायें करते हैं। वे क्या सोचते और कहते हैं यह भर्तृहरि जी के शब्दों में सुनिए :—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा, शूद्रोऽथ किं तापसः।
किंवा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्॥
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्नैष्कृद्याःपथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः॥

अर्थात् कोई मनुष्य कहता है कि यह चांडाल है या कोई द्विजाति है अथवा शूद्र तपस्वी है या तत्त्व की ज्ञान-चीज में लगा हुआ कोई योगेश्वर है। इस प्रकार की विविध प्रकार की लोगों के मुख से वाणियाँ निकलती हैं किन्तु न उस योगी को

क्रोध आता है, न किसी पर प्रसन्न होता है, वह अपने आत्म-भाव से स्थित है। इसलिए इस प्रकार का सन्त पर-वैरागी कहाता है।

प्रश्नः— गुरुदेव जी! क्या यह वैराग्य साधना साध्य है अथवा मनुष्य के हृदय में अनायास पैदा हो जाया करती है?
गुरुदेव! आपने वैराग्य की परिभाषा तो समझा दी किन्तु वैराग्य प्राप्ति के साधन नहीं बताये कृपा करके वैराग्य प्राप्ति के साधन और बताइए।

उत्तरः— सौम्य! वैराग्य प्राप्ति के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता अन्तर्मुखता की है। क्योंकि जो साधक अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को बंद करके अन्तर्मुखता को प्राप्त हो जायेगा वह दिव्य दृश्यों का द्रष्टा बन जावेगा और इस रूहानी जगत में वह इतने उत्तम दृश्य देखेगा जिनका उसको बाह्य जगत में कभी अनुभव भी नहीं हुआ होगा। जब उसके सामने इस प्रकार के दृश्य आवेंगे तब उसको बाह्य दर्शन से स्वाभाविक वैराग्य हो जायेगा। इस प्रकार से ज्यों-ज्यों योगी अधः भूमियों को छोड़कर उत्तर भूमियों में प्रवेश करेगा त्यों-त्यों अधः भूमियों से उसका स्वतः वैराग्य बढ़ता चला जायेगा और इस प्रकार से वह साधक शनैः-शनैः अभ्यास को बढ़ाता हुआ पर-वैराग्य को प्राप्त कर लेगा। इसके अतिरिक्त साधक को चाहिए कि अपने नैतिक नियमों का नियमानुवर्तिता से पूरा-पूरा पालन करे। जो मनुष्य अपनी नियमानुवर्तिता के अनुसार अपने पूरे दिन की दिन चर्या को यथार्थता से निबाहता है उसका मन व्यस्त रहता है अपने कार्यों में संलग्न रहता है इसलिए वह अन्य विषयों का चिन्तन कर ही नहीं सकता। उसको इतना अवसर ही नहीं मिलेगा जो वह अपने विषयों के अतिरिक्त इन्द्रियार्थों का चिन्तन करे। और इस प्रकार के अभ्यास से इन्द्रियार्थों के चिन्तन छूट जाने के बाद इन्द्रियों का राग भी शनैः-शनैः छूट जायेगा, और वह वैराग्य भाव को प्राप्त हो जायेगा। कुछ और इस प्रकार के नियम हैं, जिनका पालन करता हुआ मनुष्य इन्द्रिय लौल्य से बच जाता है, वे हैं—

नैतिक व्यायाम—नैतिक व्यायाम करने से वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है और इन्द्रियों की चंचलता हट जाती है।

नैतिक स्वाध्याय—नैतिक स्वाध्याय नियम से करने से रज और तम के विकार दब जाते हैं। रज और तम ही इन्द्रियों की चपलता को बढ़ाने के गुण हैं। सत्त्व में स्वाभाविक शान्ति प्रगट हो जाया करती है विशुद्ध ज्ञान एवं पवित्र प्रेम का प्रकाश होता है और इस प्रकार दिन-प्रति-दिन विशुद्ध प्रेम के बढ़ने से वासनात्मक राग मिट

जाता है। इस साधना के साथ मनुष्य को अपने आहार-विहार पर संयम रखना चाहिए। हमारे शास्त्र का नियम है कि :—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति।

जिसका आहार शुद्ध होगा उसका सत्व शुद्ध होगा और जिसका सत्त्व शुद्ध होगा उसकी समाधि निश्चित है। और आहार भी नियमानुसार करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है :—

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् जो मनुष्य अपनी दिन-चर्या को पूरी तरह निभाता है जिसका खान-पान समय पर होता है जो ठीक समय पर सो जाता है और ठीक समय पर जग जाता है उसके लिए योग सदा सुखदाई हुआ करता है। यही सब सहज सरल साधन है जिनको पा करके मनुष्य वैराग्य को प्राप्त होता है। वीतराग पुरुषों की उपासना करना सर्व साधारण के लिए और भी उपादेय वस्तु है जिससे अवश्य वैराग्य की प्राप्ति होगी।

गुरुतर-मानव-धर्म

[श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर' झाँसी नगर (उ.प्र.)]

करना परहित पुण्य प्रद, है पर पीड़न पाप,
प्रण प्रतिपालें प्रचुर-यश, मिलता अपने आप।

परोपकार कर के कभी, करे न यश की चाह,
मिले साधना से सुकृत, पावन-पुण्य-प्रवाह।

उठे न उर अविवेक-वश अहङ्कार-अविचार,
परोपकार उत्तम वही, यही ज्ञान का सार।

श्रेयस्कर, सुखकर सदा, करना परहित कर्म,
कर परहित पाले परम, गुरुतर-मानव धर्म।

सचित्र योगासन व उनसे लाभ

चतुष्कोणासन

विधि :— बहुत सरल है। सीधे बैठ जाइये एक पैर को मोड़ कर कटि पार्श्व में वज्रासन की तरह ले जाइये। उसके बाद दूसरी ओर के पैर की पिण्डली को अपने हाथ की कोहनी पर तुलनात्मक रूप से रख लीजिये व उसके दूसरी ओर के हाथ को गर्दन के पीछे से घुमाकर इस दूसरे हाथ की अंगुलियों में अंगुली डाल कर पकड़ लीजिये बन गया चतुष्कोणासन। इस आसन को दोनों ओर से बदल-बदल कर दोनों पैरों से अवश्य करना चाहिये।

समय:— शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये।

लाभ:— इस आसन का तनाव गर्दन, जंघा व भुजदण्डों पर पड़ता है। अतः वहाँ की नाड़ियों के लिये यह गति दाता व्यायाम है। इन सभी स्नायुओं में पूरी-पूरी गति देता है।

वीरासन

एक पादमधश्चैकस्मिंश्चिन्यसेदुरु मध्यमे।
इतस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम॥

विधि:— पद्मासन की ही तरह इसमें भी एक पैर को दूसरे पैर की जंघा पर जमा कर रखें व दूसरे पैर को उसके ऊपर रखें व छातीको आगे की ओर तनावकर और अपने दोनों हाथों को घुटनों पर जमा कर रखें, इसी का नाम वीरासन है।

नोट— कहीं-कहीं इसमें हाथों के अग्रभाग को (पंजों को) उलटा कर पिछली ओर करने का भी क्रम है।

समयः— साधारण पूर्ववत् शनैः-शनैः बढ़ायें।

लाभः— ध्यानाभ्यास के लिये उत्कृष्ट है, मन में उत्साहजनक है।

एकपाद स्कन्धासन

विधिः— अपने एक पैर को उठाकर कन्धे पर रखिये तत्पश्चात् अपने दोनों हाथों को उठाकर गर्दन के पास ले जाकर परस्पर अँगुलियों में अँगुलियां डालकर पकड़ लीजिये। इसको एकपाद स्कन्धासन कहते हैं। दोनों पैरों को बदल-बदल कर दोनों ओर से करें।

समयः— धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

लाभः— दोनों भुजदण्ड व स्कन्ध के स्नायुओं में गति होती है पुष्टि होती है।

द्विपाद स्कन्धासन

विधिः— पहले की ही तरह इसमें दोनों पैरों को उठाकर कन्धों पर रख लीजिये व दोनों हाथों को उठाकर पृष्ठभाग से गर्दन पर लाकर अँगुलियों में अँगुली डालकर पकड़ लीजिये। इसी का नाम द्विपाद स्कन्ध आसन है।

समयः— १५ या २० सैकन्ड से आरम्भ करें व दो मिनट तक शनैः शनैः बढ़ायें।

लाभः— दोनों भुजदण्ड व स्कन्ध के स्नायुओं के गति होती है। और पुष्टि होती है।

श्री गुरुदेवजी का आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम

परम पूज्य श्री गुरुदेवजी के लगभग दो मास के एकान्तवास के बाद ८ अक्टूबर से पुनः योग-प्रचार कार्यक्रम प्रारम्भ हो रहे हैं, विवरण इस प्रकार है—

ता० १—१०—७० से ता० ७—१०—७० तक	निवास, योग प्रशिक्षण केन्द्र, श्री सिद्ध गुफा सवांई।
ता० ८—१०—७० से ता० ११—१०—७० तक	योगप्रचारकार्यक्रम, श्री सिद्धगुफामंडलटूण्डला पता—श्री विजयकरनसिंहजी कण्ट्रोलर कोठी नं० ३१ एफ, स्टेशन के पास
ता० ११—१०—७० को	टूण्डला से वापिसी और सवांई आश्रम रात्रि निवास
ता० १२—१०—७० को	कालका मेल से चण्डीगढ़ के लिए प्रस्थान
ता० १३—१०—७० से ता० २४—१०—७० तक	योग प्रचार कार्य क्रम श्री सिद्ध गुफा योग-प्रचार मंडल, चण्डीगढ़। पत्र-व्यवहार का पता- द्वारा श्री ओउमप्रकाश शर्मा, ५४ डी. सैक्टर १४, चण्डीगढ़-१४
ता० २५—१०—७० को	चण्डीगढ़ से सवांई आश्रम को वापिसी।
ता० २८—१०—७० से ता० ३—११—७० तक	निवास योग-प्रशिक्षण केन्द्र, श्री सिद्ध गुफा सवांई
ता० ४—११—७० को	समालखां मण्डी, जिला (करनाल) को प्रस्थान
ता० ५—११—७० से ता० १४—११—७० तक	योग प्रचार कार्य समालखां मण्डी, जिला करनाल। पता—द्वारा— लाला फूलचन्द-दुलीचन्द आढ़ती मनाने वाले समालखां मण्डी, जिला करनाल (हरियाना)

नोटः— इससे आगे का कार्य क्रम आगामी अंक में प्रकाशित होगा।

अपनी आत्म कथा

[श्री लाला दुलीचन्द्र गोपल प्रधान, श्रीकृष्ण गौशाला]
समालखा मण्डी, जिला करनाल

मुझे अपने श्री गुरुदेव जी की महत्ता बताते हुए एवं निजानुभूत अपनी आत्म-कथा सुनाते हुए परम हर्ष हो रहा है।

'परोपकाराय सतां विभूतयः'

इस युक्ति की चरितार्थता मैंने अपने गुरुदेव अनन्त कोटि योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के स्वरूप में स्वयं देखी है। महापुरुषों का स्वभाव कितना कृपामय होता है कि वह स्वयं कष्ट उठा करके भी पराया हित करने में ही महान् सुख अनुभव करते हैं। श्री गोस्वामी तुलसीदास महाराज ने अपने रामचरित मानस में महापुरुषों की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है :—

साधु चरित सुभ चरित कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जग-जस पावा॥

महात्माओं का चरित्र कपास के समान पवित्र है जिसका फल रस रहित और उज्ज्वल गुणवाला होता है अर्थात् कपास के फल की डोंडी में किसी प्रकार का रस नहीं होता। किन्तु जब वह फूलती है तो उसमें हजारों तन्तुओं को प्रगट करने वाली उज्ज्वल कपास प्रगट होता है जिससे हजारों व्यक्तियों को शीत से रक्षा होती है। इसी प्रकार से सन्तों का हृदय बहुत विशाल पाप अन्धकार से रहित बहुत सद्गुणों का भंडार होता है। जिस प्रकार से कपास चर्खी से लूड़ करके और धुनने से धुन करके हजारों दुःख सहन करके भी दूसरों के हित के लिए शीत-रक्षा का साधन होती है, उसी प्रकार से सन्तों का हृदय भी अनेक प्रकार के दुःख सह करके भी परहित के लिए तत्पर रहता है। यही कारण है कि संसार सन्तों की बड़ाई करता है। अब तक सन्तों के ये गुण विद्वानों की वाणियों से सुने थे। किन्तु सत्संगति के बिना संतों की पूरी-पूरी पहिचान न हो पाई। मुझे अपने श्री गुरुदेवजी के चरणों में आकर सन्तता (साधुता) का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। सन्त लोग वस्तुतः अकारण कृपालु होते हैं।

के लिए योग-दीक्षा प्राप्त की जिसके फल-स्वरूप अध्यात्म जगत में भी मेरा थोड़ा-थोड़ा प्रवेश हुआ और कई प्रकार की विलक्षण घटनायें घटित हुईं। एक बार हमारा एक बहुत बड़ा कार्य रुका पड़ा था मेरा मन श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में लीन था मैंने अकस्मात् देखा (योगयोगेश्वर श्री प्रभुजी सामने हैं और कह रहे है बेटा चिन्ता क्यों करता है, जिस ऑफीसर ने तेरा काम करना है वह यह सरदार है और इसे हम तेरे सामने ले आये। तू अब इससे जो चाहे करा ले। मैंने उस स्थिति में उस सरदार के सूक्ष्म शरीर से कहा कि सरदार हमारा काम यह इस प्रकार होना चाहिए। उसने तत्काल स्वीकार कर लिया कि हां तुम्हारा यह काम कर दिया गया। दूसरे दिन मुझे उसी काम के लिए सरदार के पास जाना पड़ा तो वह वही सरदार था जिसको मुझे श्री प्रभुजी ने दिखलाया था। जब मैं उस सरदार से स्थूल में जाकर मिला तो बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकृति दे दी और मेरे काम को पूरा-पूरा ठीक कर दिया। मैं समझता हूं कि श्री गुरुदेव जी के चरणारविन्द को पाकर के मेरा जीवन कृत्य-कृत्य हो गया। श्री गुरुदेवजी अपने प्रवचनों में गो-वंश का बहुत बड़ा वर्णन किया करते है गो-सेवा का महात्म्य बहुत बड़ा है। इन सब बातों को मध्य में रख करके श्री कृष्ण गौशाला समालखा मण्डी का कार्य भार श्री कृष्ण गौशाला कमेटी की ओर से मुझे सौंपा गया, उसको सुचारु रूप से निभाने का मैं पूरा-पूरा प्रयत्न करता हूं।

मैं समझता हूं ये भी श्री गुरुदेवजी की अनुकम्पा का फल है कि मुझे इस क्षणिक जीवन में गो-सेवा का भी फल प्राप्त हुआ। मेरे इस छोटे से लेख को पढ़कर सभी बहिन-भाई अमृत भूल श्री गुरुदेवजी के चरण-कमलों से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। इसलिए ये कुछ पंक्तियें लिखवा दी हैं।

गुरु ही श्रेष्ठ है।

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति विष्णुसमं दैवं नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्॥

गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, भगवान् विष्णु के समान कोई देवता नहीं है तथा गुरु से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है।

सन् १९५१ ई० में मैं लम्बे समय तक बीमार रहा। मेरे पेट में असह्य पीड़ा होती थी। उस के काफी इलाज कराये। किन्तु किसी भी प्रकार से आराम नहीं हुआ। आराम का केवल मात्र एक ही उपाय था और वह यह कि दो या तीन घण्टे लगातार असहनीय उदर पीड़ा भोग लेने के बाद मुझे स्वाभाविक ही वमन और विरेचन हो जाते थे जिनके फलस्वरूप मैं एक या दो दिन को ठीक हो जाता था। कारण ज्ञात के लिए डाक्टरों से ऐक्सरा कराया तो डाक्टरों ने बताया कि तुम्हारी पित्त की थैली में पथरी हो गई है। इसमें बिना ऑपरेशन के किसी भी प्रकार से कोई लाभ नहीं हो सकता। और यदि ऑपरेशन न कराया तो इसका अन्तिम परिणाम मृत्यु ही होगा, मैंने मृत्यु का नाम सुनकर साहस पूर्वक ऑपरेशन कराने का निश्चय किया। तब डाक्टरों ने मुझसे कहा कि देखो लाला दुलीचन्द यह ऑपरेशन खतरनाक है। हम तुम्हारे बचाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु यह हम जुम्मेदारी के साथ कह नहीं सकते हैं कि तुम इस ऑपरेशन वाली मेज से उठ सकोगे या नहीं। तुम हमें लिख कर दो। कदाचित् तुम्हारी मृत्यु हो गई तो हम उसके जिम्मेदार न होंगे। डाक्टरों के इस कथन को सुनकर मैं घबरा गया। मुझे चारों ओर मौत ही मौत दिखलाई देने लगी कोई भी अवलम्ब न रहा। होनहार कुछ अच्छी थी। दिल्ली में मेरी बुआ का लड़का लाला मांगेराम और उनका पुत्र परशुराम दोनों मिले। उन दोनों ने मुझे परामर्श दिया कि मैं श्री गुरुदेव जी के चरण कमलों में उपस्थित होऊँ और योग-साधनों द्वारा अपनी रोग-चिकित्सा की प्रार्थना करूँ। मुझे योग-साधनादि पर कोई विशेष आस्था तो थी नहीं। किन्तु हमारी हरियाने की लोकोक्ति है 'मरता क्या न करता' इसी को सामने रखकर श्री गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुआ। श्री गुरुदेव जी उन दिनों हमारे अपने जिले करनाल के सालवन गाँव में प्रचार-कार्य कर रहे थे। सालवन में लाला भोलाराम आदि हमारे रिश्तेदार थे। मैं उनसे आकर मिला और अपनी बीमारी का जिक्र किया। उन्होंने मेरी करुण कथा सुनकर मुझे प्रोत्साहन दिया और कहा भाई दुलीचन्द तू बिलकुल ठीक आ गया है। यहाँ पर श्री गुरुजी के सरल साधनों से बड़े-बड़े लोगों को फायदे हुए हैं। चलो तुम्हें तीरथ पर गुरुजी के चरणों में लिए चलते हैं। यह कहकर वे मुझे श्री गुरुजी के चरण-कमलों में ले गये। मेरे वहाँ पहुंचते ही श्री गुरुदेव जी ने मेरी ओर बड़े गौर से देखा और पूछा कहो भाई तुम कैसे आये हो? श्री गुरुदेव जी के पूछने पर मैंने अपनी सारी कथा कह सुनाई। श्री गुरुदेवजी ने उत्तर दिया भाई तुम्हें आराम अवश्य हो जायेगा। किन्तु कम-से-कम एक महीना हमारे साथ रहना पड़ेगा। मैंने श्री श्री गुरुदेवजी से प्रार्थना की कि गुरुजी मेरे पित्त की थैली में पथरी है वह कैसे चली जायेगी। श्री गुरुदेव जी ने हंसते हुए उत्तर दिया चिन्ता मत करो।

जिस प्रकार वह हुई थी उसी प्रकार चली जायेगी। मैंने श्री गुरुजी की आज्ञा का पालन किया और साधन आरम्भ कर दिये। मेरे इस रोग की निवृत्ति के लिए निम्नांकित साधनायें बतलाईं जिनसे मुझे पूरा-पूरा लाभ हुआ।

लेखक

वे साधनायें इस प्रकार थीं—

प्रथम दिन श्री गुरुदेवजी ने मुझे सूत्र-नेति करने की आज्ञा प्रदान की और स्वयं अपने कर कमलों से ही मुझे सूत्र-नेति कराई और उसके साथ-साथ नासिका रन्ध्रों से ओष्ण दूध पिलाना आरम्भ किया। यद्यपि उन दिनों मुझे दूध पीना खतरनाक था, कदाचित् मैं एकाध छटांक दूध मुख से पी लेता था तो काल के समान भयंकर पेट-दर्द तत्काल पैदा हो जाता था। मैंने उसी पेट-दर्द के भय से दूध पीने से इन्कार किया किन्तु श्री गुरुदेवजी ने मुझे पूर्ण विश्वास दिलाया कि भाई तू चिन्ता क्यों करता है हम जिम्मेवार हैं पेट में दर्द बिल्कुल नहीं होगा, हुआ भी वैसा ही। मैंने श्री गुरुदेव की आज्ञा से नासिका रन्ध्रों से दूध पी तो लिया। पर मन कंपता रहा कि कहीं फिर दर्द न हो जाय। मुझे यह पता नहीं था कि श्री गुरुदेवजी की वाणी मेरे लिए वरदान सिद्ध होगी और मैं सुख के दिन फिर देख सकूंगा।

मैंने दूध पिया और कोई कष्ट न हुआ। मैं नित्य नासिका रन्ध्रोंसे दूध पीता रहा और साधना करता रहा जिसके फलस्वरूप काल के समान मेरा वह दर्द निर्मूल हो गया, सालबन से श्री गुरुदेव मुझे अपने साथ मुरादाबाद ले गये और लगभग एक महीना मैंने वह साधन किये। जिनके परिणाम स्वरूप आज १९ वर्ष से मैं पूर्ण स्वस्थ हूं। जो साधनायें मैं करता था उनमें से मुख्य साधन जीवन-तत्व साधन था, जिसकी नौ क्रियायें भिन्न-भिन्न रूपों से हैं। यथा सर्वोत्तान, स्कन्धचालन, पग चालन, नाभिचालन, आतुप्रसार, नाड़ी संचालन, उत्तोलन, इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तान, धनुरासन, नावासन, सलभासन, मयूरासन एवं सर्वांगासनादि का मुझे अभ्यास कराया। यों मुझे उत्तरोत्तर शारीरिक लाभ हुआ जिसके फलस्वरूप मैं अपने आपको पूर्ण स्वस्थ देखता हूं। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य लाभ के कुछ समय बाद मैंने अपने आध्यात्मिक विकास

आवश्यक-सूचना

कार्तिक मास में दिवाली के उपरान्त प्रातः स्मरणीय श्री गुरुदेव योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहनजी महाराज लगभग २०-२५ दिन सवांई आश्रम निवास किया करते थे तथा इस बीच में सभी समीपवर्ती सत्संगी भाई आश्रम पहुंच कर उनके दर्शन और सत्संग का लाभ उठाया करते थे। किन्तु इस बार योग-प्रचार कार्य्यक्रमों की बाहुल्यता और व्यस्तता के कारण पूज्य श्री गुरुदेवजी दीपावली के पश्चात् आश्रम में पूर्ववत् अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकेंगे। आश्रम में उनका निवास २८-१०-७० से ३-११-७० तक ही रहेगा। अतः जो भाई-बहन उनके दर्शनार्थ अथवा उनसे मिलने के लिए आना चाहें वे इस निर्धारित समय के बीच में ही आकर उनसे मिल सकते हैं। ३ नवम्बर के पश्चात् पूज्य श्री गुरुदेवजी अपने पूर्व निश्चित् समालखांसणजी के कार्य्यक्रम पर प्रस्थान कर जायेंगे।

व्यवस्थापक:—

श्री सिद्ध गुफा कार्यालय, सवांई।

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्रीचन्द्रमोहनजी महाराज

धन की आसक्ति ही पाप है

धन जड़ है। वह अपने आप में न पुण्य है और न पाप। वह एकान्त रूप से परिग्रह भी नहीं है। यदि धन को ही परिग्रह का माप-दंड मान लिया जाए तो शास्त्रों की परिग्रह संबंधी परिभाषा को ही बदलना पड़ेगा। क्योंकि आगम में धन को नहीं, आसक्ति को परिग्रह कहा है। यदि एक व्यक्ति के पास न तन ढकने को पूरा वस्त्र है, न खाने को पूरा भोजन है और न शयन करने के लिए मकान ही है, परन्तु उसके मन में अनन्त इच्छायें चक्कर काट रही हैं। पदार्थों के प्रति आसक्ति है सारे विश्व पर साम्राज्य करने की अभिलाषा है तो धन से दरिद्र होने पर भी वह परिग्रही है। और आसक्ति मूर्छा और इच्छाओं से रहित व्यक्ति के अधीन सारा संसार भी हो तब भी वह परिग्रही नहीं है। अतः परिग्रह धन-सम्पत्ति में नहीं मनुष्य के मन में स्थित आसक्ति एवं ममत्व भाव में है।

मनुष्य धन-वैभव एवं पदार्थों का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता। जैसे समुद्र में चलने वाली नौका पानी का परित्याग नहीं कर सकती। सागर को पार करने के लिए पानी का रहना आवश्यक है। उसके नीचे अनन्त जल-कण प्रवहमान रहते हैं। फिर भी उसे तब तक कोई खतरा नहीं रहता जब तक जल का अनन्त प्रवाह उसके नीचे दबा है। परन्तु यदि जल की कुछ लहरें या पानी का थोड़ा सा प्रवाह उसमें भर जाए तो नौका के लिए खतरा हो जाएगा। यही स्थिति जीवन की है। भले ही सारे संसार की संपत्ति मनुष्य के चरण चूम रही हो परन्तु यदि उसके मन में विचारों में जीवन में आसक्ति का इच्छा का, ममता-मूर्छा का प्रवाह नहीं बह रहा है तो उसके जीवन के लिए कोई खतरा नहीं है कोई भय नहीं है। सम्पत्ति का का वह महाप्रवाह उसके अपरिग्रह की ओर बढ़ने वाले कदमों को रोक नहीं सकता। अतः धन सम्पत्ति परिग्रह एवं पाप नहीं, पाप के परिग्रह का निमित्त बन सकती है। यथार्थ में आसक्ति ही परिग्रह है आसक्ति ही पाप है और आसक्ति ही संसार परिभ्रमण का कारण है।

—उपाध्याय श्री अमरमुनि महाराज

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, घसई कलां, ताजगंज-आगरा-२